त्रातारं नाधिगच्छन्ति रौद्राः प्राणिविहिंसकाः।
उद्वेजनीया भूतानां यथा व्यालमृगास्तथा॥ ३२॥

जैसे यहाँ हिंसक पशुओंका लोग शिकार खेलते हैं और वे पशु अपने लिये कहीं कोई रक्षक नहीं पाते, उसी प्रकार प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले भयंकर मनुष्य दूसरे जन्ममें सभी प्राणियोंके उद्वेगपात्र होते हैं और अपने लिये कोई संरक्षक नहीं पाते हैं॥ ३२॥

लोभाद् वा बुद्धिमोहाद् वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम्॥ ३३॥

लोभसे, बुद्धिके मोहसे, बल-वीर्यकी प्राप्तिके लिये अथवा पापियोंके संसर्गमें आनेसे मनुष्योंकी अधर्ममें रुचि हो जाती है॥ ३३॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते॥ ३४॥

जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, चैनसे नहीं रहने पाता है॥ ३४॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः॥ ३५॥

नियमनरायण महर्षियोंने मांस-भक्षणके त्यागको ही धन, यश, आयु तथा स्वर्गकी प्राप्तिका प्रधान उपाय और परमकल्याणका साधन बतलाया है॥ ३५॥

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे॥ ३६॥

कुन्तीनन्दन! मांसभक्षणमें जो दोष हैं, उन्हें बतलाते हुए मार्कण्डेयजीके मुखसे मैंने पूर्वकालमें ऐसा सुन रखा है—॥ ३६॥

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम्।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः॥ ३७॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंको मारकर अथवा उनके स्वयं मर जानेपर उनका मांस खाता है, वह न मारनेपर भी उन प्राणियोंका हत्यारा ही समझा जाता है॥ ३७॥

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः॥ ३८॥

खरीदनेवाला धनके द्वारा, खानेवाला उपभोगके द्वारा और घातक वध एवं बन्धनके द्वारा पशुओंकी हिंसा करता है। इस प्रकार यह तीन तरहसे प्राणियोंका वध होता है॥

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥ ३९॥

'जो मांसको स्वयं नहीं खाता पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है॥ ३९॥

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥ ४०॥

'जो मनुष्य मांस नहीं खाता और इस जगत्में सब जीवोंपर दया करता है, उसका कोई भी प्राणी तिरस्कार नहीं करते और वह सदा दीर्घायु एवं नीरोग होता है॥ ४०॥

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥ ४१॥

'सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करनेसे जो धर्म प्राप्त होता है, मांसका भक्षण न करनेसे उसकी अपेक्षा भी विशिष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है। यह हमारे सुननेमें आया है॥ ४१॥

खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः।
महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः॥ ४२॥

'जो मांस खानेवालोंके लिये पशुओंकी हत्या करता है, वह मनुष्योंमें अधम है। घातकको बहुत भारी दोष लगता है। मांस खानेवालेको उतना दोष नहीं लगता॥ ४२॥

हन्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥ ४३॥

'जो मांसलोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गोंके नामपर प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है॥ ४३॥

भक्षयित्वापि यो मांसं पश्चादपि निवर्तते।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद् विनिवर्तते॥ ४४॥

'जो पहले मांस खानेके बाद फिर उससे निवृत्त हो जाता है, उसको भी अत्यन्त महान् धर्मकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वह पापसे निवृत्त हो गया है॥ ४४॥

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥ ४५॥

'जो मनुष्य हत्याके लिये पशु लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, वे सब-के-सब खानेवाले ही माने जाते हैं। अर्थात् वे सब खानेवालेके समान ही पापके भागी होते हैं'॥ ४५॥

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम्।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम्॥ ४६॥

अब मैं इस विषयमें एक दूसरा प्रमाण बता रहा हूँ, जो साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा प्रतिपादित, पुरातन, ऋषियोंद्वारा सेवित तथा वेदोंमें प्रतिष्ठित है॥ ४६॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः प्रजार्थिभिरुदाहृतः।
यथोक्तं राजशार्दूल न तु तन्मोक्षकाङ्क्षिणाम्॥ ४७॥

नृपश्रेष्ठ! प्रजार्थी पुरुषोंने प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है, परन्तु वह मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले विरक्त पुरुषोंके लिये अभीष्ट नहीं है॥ ४७॥

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः॥ ४८॥

जो मनुष्य अपने आपको अत्यन्त उपद्रवरहित बनाये रखना चाहता हो, वह इस जगत्में प्राणियोंके मांसका सर्वथा परित्याग कर दे॥ ४८॥

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥ ४९॥

सुना है, पूर्वकल्पमें मनुष्योंके यज्ञमें पुरोडाश आदिके रूपमें अन्नमय पशुका ही उपयोग होता था। पुण्यलोककी प्राप्तिके साधनोंमें लगे रहनेवाले याज्ञिक पुरुष उस अन्नके द्वारा ही यज्ञ करते थे॥ ४९॥

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा।
अभक्ष्यमपि मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो॥ ५०॥

प्रभो! प्राचीन कालमें ऋषियोंने चेदिराज वसुसे अपना संदेह पूछा था। उस समय वसुने मांसको भी जो सर्वथा अभक्ष्य है, भक्ष्य बता दिया॥ ५०॥

आकाशादवनिं प्राप्तस्ततः स पृथिवीपतिः।
एतदेव पुनश्चोक्त्वा विवेश धरणीतलम्॥ ५१॥

उस समय आकाशचारी राजा वसु अनुचित निर्णय देनेके कारण आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े। तदनन्तर पृथ्वीपर भी फिर यही निर्णय देनेके कारण वे पातालमें समा गये॥ ५१॥

इदं तु शृणु राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ।
अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप॥ ५२॥

निष्पाप राजेन्द्र! मनुजेश्वर! मेरी कही हुई यह बात भी सुनो—मांस-भक्षण न करनेसे सब प्रकारका सुख मिलता है॥ ५२॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णं तपस्तप्येत् सुदारुणम्।
यश्चैव वर्जयेन्मांसं सममेतन्मतं मम॥ ५३॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक कठोर तपस्या करता है तथा जो केवल मांसका परित्याग कर देता है—ये दोनों मेरी दृष्टिमें एक समान हैं॥ ५३॥

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप।
वर्जयेन्मधुमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते॥ ५४॥

नरेश्वर! विशेषतः शरद्ऋतु, शुक्लपक्षमें मद्य और मांसका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि ऐसा करनेमें धर्म होता है॥ ५४॥

चतुरो वार्षिकान् मासान् यो मांसं परिवर्जयेत्।
चत्वारि भद्राण्यवाप्नोति कीर्तिमायुर्यशोबलम्॥ ५५॥

जो मनुष्य वर्षाके चार महीनोंमें मांसका परित्याग कर देता है, वह चार कल्याणमयी वस्तुओं—कीर्ति, आयु, यश और बलको प्राप्त कर लेता है॥ ५५॥

अथवा मासमेकं वै सर्वमांसान्यभक्षयन्।
अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवेन्निरामयः॥ ५६॥

अथवा एक महीनेतक सब प्रकारके मांसोंका त्याग करनेवाला पुरुष सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो सुखी एवं नीरोग जीवन व्यतीत करता है॥ ५६॥

वर्जयन्ति हि मांसानि मासशः पक्षशोऽपि वा।
तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते॥ ५७॥

जो एक-एक मास अथवा एक-एक पक्षतक मांस खाना छोड़ देते हैं, हिंसासे दूर हटे हुए उन मनुष्योंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है (फिर जो कभी भी मांस नहीं खाते, उनके लाभकी तो कोई सीमा ही नहीं है)॥ ५७॥

मांसं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः।
सर्वभूतात्मभूतस्थैर्विदितार्थपरावरैः॥ ५८॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना।
आयुनाथानरण्येन दिलीपरघुपूरुभिः॥ ५९॥
कार्तवीर्यानिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना।
नृगेण विश्वगश्वेन तथैव शशबिन्दुना॥ ६०॥
युवनाश्वेन च तथा शिबिनौशीनरेण च।
मुचुकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वा विभो॥ ६१॥

कुन्तीनन्दन! जिन राजाओंने आश्विन मासके दोनों पक्ष अथवा एक पक्षमें मांस भक्षणका निषेध किया था, वे सम्पूर्ण भूतोंके आत्मरूप हो गये थे और उन्हें परावर तत्त्वका ज्ञान हो गया था। उनके नाम इस प्रकार हैं—नाभाग, अम्बरीष, महात्मा गय, आयु, अनरण्य, दिलीप, रघु, पूरु, कार्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विश्वगश्व, शशविन्दु, युवनाश्व, उशीनरपुत्र शिबि, मुचुकुन्द, मान्धाता अथवा हरिश्चन्द्र॥ ५८—६१॥

सत्यं वदत मासत्यं सत्यं धर्मः सनातनः।
हरिश्चन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत्॥ ६२॥

सत्य बोलो, असत्य न बोलो, सत्य ही सनातन धर्म है। राजा हरिश्चन्द्र सत्यके प्रभावसे आकाशमें चन्द्रमाके समान विचरते हैं॥ ६२॥

श्येनचित्रेण राजेन्द्र सोमकेन वृकेण च।
रैवते रन्तिदेवेन वसुना सृञ्जयेन च॥ ६३॥
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र कृपेण भरतेन च।
दुष्यन्तेन करूषेण रामालर्कनरैस्तथा॥ ६४॥
विरूपाश्वेन निमिना जनकेन च धीमता।
ऐलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह॥ ६५॥
इक्ष्वाकुणा शम्भुना च श्वेतेन सगरेण च।
अजेन धुन्धुना चैव तथैव च सुबाहुना॥ ६६॥
हर्यश्वेन च राजेन्द्र क्षुपेण भरतेन च।
एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्॥ ६७॥

राजेन्द्र! श्येनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, सृंजय, अन्यान्य नरेश, कृप, भरत, दुष्यन्त, करूष, राम, अलर्क, नर, विरूपाश्व, निमि, बुद्धिमान् जनक, पुरूरवा, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शम्भु, श्वेतसागर, अज, धुन्धु, सुबाहु, हर्यश्व, क्षुप, भरत—इन सबने तथा अन्यान्य राजाओंने भी कभी मांस नहीं खाया था॥

ब्रह्मलोके च तिष्ठन्ति ज्वलमानाः श्रियान्विताः।
उपास्यमाना गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसमन्विताः॥ ६८॥

वे सब नरेश अपनी कान्तिसे प्रज्वलित होते हुए वहाँ ब्रह्मलोकमें विराज रहे हैं, गन्धर्व उनकी उपासना करते हैं और सहस्रों दिव्यांगनाएँ उन्हें घेरे रहती हैं॥

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसाधर्मलक्षणम्।
ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते॥ ६९॥

अतः यह अहिंसारूप धर्म सब धर्मोंसे उत्तम है। जो महात्मा इसका आचरण करते हैं, वे स्वर्गलोकमें निवास करते हैं॥ ६९॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः॥ ७०॥

जो धर्मात्मा पुरुष जन्मसे ही इस जगत्में शहद, मद्य और मांसका सदाके लिये परित्याग कर देते हैं, वे सब-के-सब मुनि माने गये हैं॥ ७०॥

इमं धर्ममांसादं यश्चरेच्छ्रावयीत वा।
अपि चेत् सुदुराचारो न जातु निरयं व्रजेत्॥ ७१॥

जो मांस-भक्षणके परित्यागरूप इस धर्मका आचरण करता अथवा इसे दूसरोंको सुनाता है, वह कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, नरकमें नहीं पड़ता॥ ७१॥

पठेद् वा य इदं राजन् शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः।
अमांसभक्षणविधिं पवित्रमृषिपूजितम्॥ ७२॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वकामैर्महीयते।
विशिष्टतां ज्ञातिषु च लभते नात्र संशयः॥ ७३॥

राजन्! जो ऋषियोंद्वारा सम्मानित एवं पवित्र इस मांस-भक्षणके त्यागके प्रकरणको पढ़ता अथवा बारंबार सुनता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो सम्पूर्ण मनोवांछित भोगोंद्वारा सम्मानित होता है और अपने सजातीय बन्धुओंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है॥ ७२-७३॥

आपन्नश्चापदो मुच्येद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
मुच्येत्तथाऽऽतुरो रोगाद् दुःखान्मुच्येत दुःखितः॥ ७४॥

इतना ही नहीं, इसके श्रवण अथवा पठनसे आपत्तिमें पड़ा हुआ आपत्तिसे, बन्धनमें बँधा हुआ बन्धनसे, रोगी रोगसे और दुःखी दुःखसे छुटकारा पा जाता है॥ ७४॥

तिर्यग्योनिं न गच्छेत रूपवांश्च भवेन्नरः।
ऋद्धिमान् वै कुरुश्रेष्ठ प्राप्नुयाच्च महद् यशः॥ ७५॥

कुरुश्रेष्ठ! इसके प्रभावसे मनुष्य तिर्यग्योनिमें नहीं पड़ता तथा उसे सुन्दर रूप, सम्पत्ति और महान् यशकी प्राप्ति होती है॥ ७५॥

एतत्ते कथितं राजन् मांसस्य परिवर्जने।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च विधानमृषिनिर्मितम्॥ ७६॥

राजन्! यह मैंने तुम्हें ऋषियोंद्वारा निर्मित मांस-त्यागका विधान तथा प्रवृत्तिविषयक धर्म भी बताया है॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मांसभक्षणनिषेधे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मांसभक्षणका निषेधविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११५॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

मांस न खानेसे लाभ और अहिंसाधर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव॥ १॥

युधिष्ठिर कहते हैं—पितामह! बड़े खेदकी बात है कि संसारके ये निर्दयी मनुष्य अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थोंका परित्याग करके महान् राक्षसोंके समान मांसका स्वाद लेना चाहते हैं॥ १॥

अपूपान् विविधाकाराञ्शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्॥ २॥

भाँति-भाँतिके मालपूओं, नाना प्रकारके शाकों तथा रसीली मिठाइयोंकी भी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी रुचि मांसके लिये रखते हैं॥ २॥

तदिच्छामि गुणान् श्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ॥ ३॥

प्रभो! पुरुषप्रवर! अतः मैं मांस न खानेसे होनेवाले लाभ और उसे खानेसे होनेवाली हानियोंको पुनः सुनना चाहता हूँ॥ ३॥

सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ यथावदिह धर्मतः।
किं च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे॥ ४॥

धर्मज्ञ पितामह! इस समय धर्मके अनुसार यथावत्रूपसे यहाँ सब बातें ठीक-ठीक बताइये। इसके सिवा यह भी कहिये कि भोजन करने योग्य क्या वस्तु है और भोजन न करने योग्य क्या वस्तु है॥ ४॥

यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ५॥

पितामह! मांसका जो स्वरूप है, यह जैसा है, इसका त्याग कर देनेमें जो लाभ है और इसे खानेवाले पुरुषको जो दोष प्राप्त होते हैं—ये सब बातें मुझे बताइये॥ ५॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणु॥ ६॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो! भरतनन्दन! तुम जैसा कहते हो ठीक वैसी ही बात है। कौरवनन्दन! मांस न खानेमें बहुत-से लाभ हैं, जो वैसे मनुष्योंको सुलभ होते हैं; मैं बता रहा हूँ; सुनो॥ ६॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः॥ ७॥

जो दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है॥ ७॥

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे॥ ८॥

जगत्में अपने प्राणोंसे अधिक प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिये मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरोंपर भी दया करे॥ ८॥

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते॥ ९॥

तात! मांस-भक्षण करनेमें महान् दोष है; क्योंकि मांसकी उत्पत्ति वीर्यसे होती है, इसमें संशय नहीं है। अतः उससे निवृत्त होनेमें ही पुण्य बताया गया है॥ ९॥

न ह्यतः सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च।
यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन॥ १०॥

कौरवनन्दन! इस लोक और परलोकमें इसके समान दूसरा कोई पुण्यकार्य नहीं है कि इस जगत्में समस्त प्राणियोंपर दया की जाय॥ १०॥

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम्॥ ११॥

इस जगत्में दयालु मनुष्यको कभी भयका सामना नहीं करना पड़ता। दयालु और तपस्वी पुरुषोंके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद होते हैं॥ ११॥

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
यदहिंसात्मकं कर्म तत् कुर्यादात्मवान् नरः॥ १२॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्मका लक्षण है। मनस्वी पुरुष वही कर्म करे, जो अहिंसात्मक हो॥ १२॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम॥ १३॥

जो दयापरायण पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं। ऐसा हमने सुन रखा है॥ १३॥

क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम्।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च॥ १४॥

वह घायल हो, लड़खड़ाता हो, गिर पड़ा हो, पानीके बहावमें खिंचकर बहा जाता हो, आहत हो अथवा किसी भी सम-विषम अवस्थामें पड़ा हो, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं॥ १४॥

नैनं ब्यालमृगा घ्नन्ति न पिशाचा न राक्षसाः।
मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद् यो भये परान्॥ १५॥

जो दूसरोंको भयसे छुड़ाता है, उसे न हिंसक पशु मारते हैं और न पिशाच तथा राक्षस ही उसपर प्रहार करते हैं। वह भयका अवसर आनेपर उससे मुक्त हो जाता है॥ १५॥

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम्॥ १६॥

प्राणदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मासे बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है। यह निश्चित बात है॥ १६॥

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः॥ १७॥

भरतनन्दन! किसी भी प्राणीको मृत्यु अभीष्ट नहीं है; क्योंकि मृत्युकालमें सभी प्राणियोंका शरीर तुरंत काँप उठता है॥ १७॥

जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च॥ १८॥

इस संसार-समुद्रमें समस्त प्राणी सदा गर्भवास, जन्म और बुढ़ापा आदिके दुःखोंसे दुःखी होकर चारों ओर भटकते रहते हैं। साथ ही मृत्युके भयसे उद्विग्न रहा करते हैं॥ १८॥

गर्भवासेषु पच्यन्ते क्षाराम्लकटुकै रसैः।
मूत्रस्वेदपुरीषाणां परुषैर्भृशदारुणैः॥ १९॥

गर्भमें आये हुए प्राणी मल-मूत्र और पसीनोंके बीचमें रहकर खारे, खट्टे और कड़वे आदि रसोंसे, जिनका स्पर्श अत्यन्त कठोर और दुःखदायी होता है, पकते रहते हैं, जिससे उन्हें बड़ा भारी कष्ट होता है॥

जाताश्चाप्यवशास्तत्र च्छिद्यमानाः पुनः पुनः।
पाच्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः॥ २०॥

मांसलोलुप जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह बेवशी प्रत्यक्ष देखी जाती है॥ २०॥

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥ २१॥

वे अपने पापोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें राँधे जाते और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर गला घोंट-घोंटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें बारंबार संसार-चक्रमें भटकना पड़ता है॥ २१॥

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात् प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत्॥ २२॥

इस भूमण्डलपर अपने आत्मासे बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको अपना आत्मा ही समझे॥ २२॥

सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः॥ २३॥

राजन्! जो जीवनभर किसी भी प्राणीका मांस नहीं खाता, वह स्वर्गमें श्रेष्ठ एवं विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है॥ २३॥

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः॥ २४॥

जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंद्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विषयमें मुझे संशय नहीं है॥ २४॥

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥ २५॥

भरतनन्दन! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) **'मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।'** अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है—इसे ही मांस शब्दका तात्पर्य समझो॥ २५॥

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षिता।
आक्रोष्टा क्रुध्यते राजंस्तथा द्वेष्यत्वमाप्नुते॥ २६॥

राजन्! इस जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने घातकका वध करता है। फिर भक्षण करनेवालेको भी मार डालता है। जो दूसरोंकी निन्दा करता है, वह स्वयं भी दूसरोंके क्रोध और द्वेषका पात्र होता है॥ २६॥

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते॥ २७॥

जो जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, वह उस-उस शरीरसे भी उस-उस कर्मका फल भोगता है॥ २७॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥ २८॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है,

अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥ २९॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है॥ २९॥

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥ ३०॥

सम्पूर्ण यज्ञोंमें जो दान किया जाता है, समस्त तीर्थोंमें जो गोता लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण दानोंका जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसाके बराबर नहीं हो सकता ॥ ३०॥

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥ ३१॥

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। वह सदा यज्ञ करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है॥ ३१॥

एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुंगव।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि॥ ३२॥

कुरुश्रेष्ठ! यह अहिंसाका फल है। यही क्या, अहिंसाका तो इससे भी अधिक फल है। अहिंसासे होनेवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अहिंसाफलकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्म पर्वमें अहिंसाके फलका वर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११६॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

शुभ कर्मसे एक कीड़ेको पूर्व-जन्मकी स्मृति होना और कीट-योनिमें भी मृत्युका भय एवं सुखकी अनुभूति बताकर कीड़ेका अपने कल्याणका उपाय पूछना

युधिष्ठिर उवाच

अकामाश्च सकामाश्च ये हताः स्म महामृधे।
कां गतिं प्रतिपन्नास्ते तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो योद्धा महासमरमें इच्छा या अनिच्छासे मारे गये हैं, वे किस गतिको प्राप्त हुए है? यह मुझे बताइये॥ १॥

दुःखं प्राणपरित्यागः पुरुषाणां महामृधे।
जानासि त्वं महाप्राज्ञ प्राणत्यागं सुदुष्करम्॥ २॥

महाप्राज्ञ! आप तो जानते ही हैं कि महा-संग्राममें मनुष्योंके लिये प्राणोंका परित्याग करना कितना दुःखदायक होता है। प्राणोंका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है॥ २॥

समृद्धौ वासमृद्धौ वा शुभे वा यदि वाशुभे।
कारणं तत्र मे ब्रूहि सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः॥ ३॥

प्राणी उन्नति या अवनति, शुभ या अशुभ किसी भी अवस्थामें मरना नहीं चाहते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये; क्योंकि मेरी दृष्टिमें आप सर्वज्ञ हैं॥ ३॥

भीष्म उवाच

समृद्धौ वासमृद्धौ वा शुभे वा यदि वाशुभे।
संसारेऽस्मिन् समायाताः प्राणिनः पृथिवीपते॥ ४॥
निरता येन भावेन तत्र मे शृणु कारणम्।
सम्यक् चायमनुप्रश्नस्त्वयोक्तस्तु युधिष्ठिर॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—पृथ्वीनाथ! इस संसारमें आये हुए प्राणी उन्नतिमें या अवनतिमें तथा शुभ या अशुभ अवस्थामें ही सुख मानते हैं। मरना नहीं चाहते। इसका क्या कारण है, यह बताता हूँ, सुनो। युधिष्ठिर! यह तुमने बहुत अच्छा प्रश्न उपस्थित किया है॥ ४-५॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तमिदं नृप।
द्वैपायनस्य संवादं कीटस्य च युधिष्ठिर॥ ६॥

नरेश्वर! युधिष्ठिर! इस विषयमें द्वैपायन व्यास और एक कीड़ेका संवादरूप जो यह प्राचीन वृत्तान्त प्रसिद्ध है, वही तुम्हें बता रहा हूँ॥ ६॥

ब्रह्मभूतश्चरन् विप्रः कृष्णद्वैपायनः पुरा।
ददर्श कीटं धावन्तं शीघ्रं शकटवर्त्मनि॥ ७॥

पहलेकी बात है, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायन विप्रवर व्यासजी कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक कीड़ेको गाड़ीकी लीकसे बड़ी तेजीके साथ भागते देखा॥ ७॥

गतिज्ञः सर्वभूतानां भाषाज्ञश्च शरीरिणाम्।
सर्वज्ञः स तदा दृष्ट्वा कीटं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

सर्वज्ञ व्यासजी सम्पूर्ण प्राणियोंकी गतिके ज्ञाता तथा सभी देहधारियोंकी भाषाको समझनेवाले हैं। उन्होंने

उस कीड़ेको देखकर उससे इस प्रकारकी बातचीत की॥

व्यास उवाच

कीट संत्रस्तरूपोऽसि त्वरितश्चैव लक्ष्यसे।
क्व धावसि तदाचक्ष्व कुतस्ते भयमागतम्॥ ९॥

व्यासजीने पूछा—कीट! आज तुम बहुत डरे हुए और उतावले दिखायी दे रहे हो, बताओ तो सही—कहाँ भागे जा रहे हो? कहाँसे तुम्हें भय प्राप्त हुआ है?॥ ९॥

कीट उवाच

शकटस्यास्य महतो घोषं श्रुत्वा भयं मम।
आगतं वै महाबुद्धे स्वन एष हि दारुणः॥ १०॥

कीड़ेने कहा—महामते! यह जो बहुत बड़ी बैलगाड़ी आ रही है, इसीकी घर्घराहट सुनकर मुझे भय हो गया है; क्योंकि उसकी यह आवाज बड़ी भयंकर है॥

श्रूयते न च मां हन्यादिति ह्यस्मादपक्रमे।
श्वसतां च शृणोम्येनं गोपुत्राणां प्रतोद्यताम्॥ ११॥
वहतां सुमहाभारं संनिकर्षे स्वनं प्रभो।
नृणां च संवाहयतां श्रूयते विविधः स्वनः॥ १२॥

यह आवाज जब कानोंमें पड़ती है, तब यह संदेह होता है कि कहीं गाड़ी आकर मुझे कुचल न डाले। इसीलिये यहाँसे जल्दी-जल्दी भाग रहा हूँ। यह देखिये बैलोंपर चाबुककी मार पड़ रही है और वे बहुत भारी बोझ लिये हाँफते हुए इधर आ रहे हैं। प्रभो! मुझे उनकी आवाज बहुत निकट सुनायी पड़ती है। गाड़ीपर बैठे हुए मनुष्योंके भी नाना प्रकारके शब्द कानोंमें पड़ रहे हैं॥ ११-१२॥

श्रोतुमस्मद्विधेनैष न शक्यः कीटयोनिना।
तस्मादतिक्रमाम्येष भयादस्मात् सुदारुणात्॥ १३॥

मेरे-जैसे कीड़ेके लिये इस भयंकर शब्दको धैर्यपूर्वक सुन सकना असम्भव है। अतः इस अत्यन्त दारुण भयसे अपनी रक्षा करनेके लिये मैं यहाँसे भाग रहा हूँ॥ १३॥

दुःखं हि मृत्युर्भूतानां जीवितं च सुदुर्लभम्।
अतो भीतः पलायामि गच्छेयं ना सुखं सुखात्॥ १४॥

प्राणियोंके लिये मृत्यु बड़ी दुःखदायिनी होती है। अपना जीवन सबको अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ता है। अतः डरकर भागा जा रहा हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मैं सुखसे दुःखमें पड़ जाऊँ॥ १४॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तु तं प्राह कुतः कीट सुखं तव।
मरणं ते सुखं मन्ये तिर्यग्योनौ तु वर्तसे॥ १५॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कीड़ेके ऐसा कहनेपर व्यासजीने उससे पूछा—'कीट! तुम्हे सुख कहाँ है?' मेरी समझमें तो तुम्हारा मर जाना ही तुम्हारे लिये सुखकी बात है; क्योंकि तुम तिर्यक् योनि—अधम कीट-योनिमें पड़े हो॥

शब्दं स्पर्शं रसं गन्धं भोगांश्चोच्चावचान् बहून्।
नाभिजानासि कीट त्वं श्रेयो मरणमेव ते॥ १६॥

'कीट! तुम्हें शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा बहुत-से छोटे-बड़े भोगोंका अनुभव नहीं होता है। अतः तुम्हारा तो मर जाना ही अच्छा है'॥ १६॥

कीट उवाच

सर्वत्र निरतो जीव इतश्चापि सुखं मम।
चिन्तयामि महाप्राज्ञ तस्मादिच्छामि जीवितुम्॥ १७॥

कीड़ेने कहा—महाप्राज्ञ! जीव सभी योनियोंमें सुखका अनुभव करते हैं। मुझे भी इस योनिमें सुख मिलता है और यही सोचकर जीवित रहना चाहता हूँ॥

इहापि विषयः सर्वो यथादेहं प्रवर्तितः।
मानुषाः स्थैर्यजाश्चैव पृथग्भोगा विशेषतः॥ १८॥

यहाँ भी इस शरीरके अनुसार सारे विषय उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों और स्थावर प्राणियोंके भोग अलग-अलग हैं॥ १८॥

अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो।
अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो वृद्धिजीवनः॥ १९॥

प्रभो! पहले जन्ममें मैं एक मनुष्य, उसमें भी बहुत धनी शूद्र हुआ था। ब्राह्मणोंके प्रति मेरे मनमें आदरका भाव न था। मैं कंजूस, क्रूर और व्याजखोर था॥ १९॥

वाक्तीक्ष्णो निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा विश्वस्य सर्वशः।
मिथ्याकृतोऽपि विधिना परस्वहरणे रतः॥ २०॥

सबसे तीखे वचन बोलना, बुद्धिमानीके साथ लोगोंको ठगना और संसारके सभी लोगोंसे द्वेष रखना, यह मेरा स्वभाव हो गया था। झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देना और दूसरोंके मालको हड़प लेनेमें संलग्न रहना—यही मेरा काम था॥ २०॥

भृत्यातिथिजनश्चापि गृहे पर्यशितो मया।
मात्सर्यात् स्वादुकामेन नृशंसेन बुभुक्षता॥ २१॥

मैं इतना निर्दयी था कि केवल स्वाद लेनेकी कामनासे अकेला ही भोजनकी इच्छा रखता और ईर्ष्यावश घरपर आये हुए अतिथियों और आश्रितजनोंको भोजन कराये बिना ही भोजन कर लेता था॥ २१॥

देवार्थं पितृयज्ञार्थमन्नं श्रद्धाऽऽहृतं मया।
न दत्तमर्थकामेन देयमन्नं पुरा किल॥ २२॥

पूर्वजन्ममें मैं देवताओं और पितरोंके यजनके लिये श्रद्धापूर्वक अन्न एकत्र करता; परंतु धन-संग्रहकी कामनासे उस देनेयोग्य अन्नका भी दान नहीं करता था॥ २२॥

गुप्तं शरणमाश्रित्य भयेषु शरणागताः।
अकस्मात् ते मया त्यक्ता न त्राता अभयैषिणः॥ २३॥

भयके समय अभय पानेकी इच्छासे कितने ही शरणार्थी मेरे पास आते, किन्तु मैं उन्हें शरण लेनेयोग्य सुरक्षित स्थानमें पहुँचाकर भी अकस्मात् वहाँसे निकाल देता। उनकी रक्षा नहीं करता था॥ २३॥

धनं धान्यं प्रियान् दारान् यानं वाससस्तथाद्भुतम्।
श्रियं दृष्ट्वा मनुष्याणामसूयामि निरर्थकम्॥ २४॥

दूसरे मनुष्योंके पास धन-धान्य, सुन्दरी स्त्री, अच्छी-अच्छी सवारियाँ, अद्भुत वस्त्र और उत्तम लक्ष्मी देखकर मैं अकारण ही उनसे कुढ़ता रहता था॥ २४॥

ईर्ष्युः परसुखं दृष्ट्वा अन्यस्य न बुभूषकः।
त्रिवर्गहन्ता चान्येषामात्मकामानुवर्तकः॥ २५॥

दूसरोंका सुख देखकर मुझे ईर्ष्या होती थी, दूसरे किसीकी उन्नति हो यह मैं नहीं चाहता था, औरोंके धर्म, अर्थ और काममें बाधा डालता और अपनी ही इच्छाका अनुसरण करता था॥ २५॥

नृशंसगुणभूयिष्ठं पुरा कर्म कृतं मया।
स्मृत्वा तदनुतप्येऽहं हित्वा प्रियमिवात्मजम्॥ २६॥

पूर्वजन्ममें प्रायः मैंने वे ही कर्म किये हैं, जिनमें निर्दयता अधिक थी। उनकी याद आनेसे मुझे उसी तरह पश्चात्ताप होता है, जैसे कोई अपने प्यारे पुत्रको त्यागकर पछताता है॥ २६॥

शुभानां नाभिजानामि कृतानां कर्मणां फलम्।
माता च पूजिता वृद्धा ब्राह्मणश्चार्चितो मया॥ २७॥
सकृज्जातिगुणोपेतः संगत्या गृहमागतः।
अतिथिः पूजितो ब्रह्मंस्तेन मां नाजहात् स्मृतिः॥ २८॥

मुझे पहलेके अपने किये हुए शुभकर्मोंके फलका अबतक अनुभव नहीं हुआ है। पूर्वजन्ममें मैंने केवल अपनी बूढ़ी माताकी सेवा की थी तथा एक दिन किसीके साथ हो जानेसे अपने घरपर आये हुए ब्राह्मण अतिथिका जो अपने जातीय गुणोंसे सम्पन्न थे, स्वागत-सत्कार किया था। ब्रह्मन्! उसी पुण्यके प्रभावसे मुझे आजतक पूर्वजन्मकी स्मृति छोड़ न सकी है॥ २७-२८॥

कर्मणा पुनरेवाहं सुखमागामि लक्षये।
तच्छ्रोतुमहमिच्छामि त्वत्तः श्रेयस्तपोधन॥ २९॥

तपोधन! अब मैं पुनः किसी शुभकर्मके द्वारा भविष्यमें सुख पानेकी आशा रखता हूँ। वह कल्याणकारी कर्म क्या है, इसे मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीटका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११७॥

~~O~~

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका क्रमशः क्षत्रिययोनिमें जन्म लेकर व्यासजीका दर्शन करना और व्यासजीका उसे ब्राह्मण होने तथा स्वर्गसुख और अक्षय सुखकी प्राप्ति होनेका वरदान देना

व्यास उवाच

शुभेन कर्मणा यद्वै तिर्यग्योनौ न मुह्यसे।
ममैव कीट तत् कर्म येन त्वं न प्रमुह्यसे॥ १॥

व्यासजीने कहा—कीट! तुम जिस शुभकर्मके प्रभावसे तिर्यग् योनिमें जन्म लेकर भी मोहित नहीं हुए हो, वह मेरा ही कर्म है। मेरे दर्शनके प्रभावसे ही तुम्हें मोह नहीं हो रहा है॥ १॥

अहं त्वां दर्शनादेव तारयामि तपोबलात्।
तपोबलाद्धि बलवद् बलमन्यन्न विद्यते॥ २॥

मैं अपने तपोबलसे केवल दर्शनमात्र देकर तुम्हारा उद्धार कर दूँगा; क्योंकि तपोबलसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ बल नहीं है॥ २॥

जानामि पापैः स्वकृतैर्गतं त्वां कीट कीटताम्।
अवाप्स्यसि पुनर्धर्मं धर्मं तु यदि मन्यसे॥ ३॥

कीट! मैं जानता हूँ, अपने पूर्वकृत पापोंके कारण तुम्हें कीटयोनिमें आना पड़ा है। यदि इस समय तुम्हारी धर्मके प्रति श्रद्धा है तो तुम्हें धर्म अवश्य प्राप्त होगा॥

कर्म भूमिकृतं देवा भुञ्जते तिर्यगाश्च ये।
धर्मोऽपि हि मनुष्येषु कामार्थश्च तथा गुणाः॥ ४॥

देवता, मनुष्य और तिर्यग् योनिमें पड़े हुए प्राणी

कर्मभूमिमें किये हुए कर्मोंका ही फल भोगते हैं। अज्ञानी मनुष्यका धर्म भी कामनाको लेकर ही होता है तथा वे कामनाकी सिद्धिके लिये ही गुणोंको अपनाते हैं॥ ४॥

वाग्बुद्धिपाणिपादैश्च व्यपेतस्य विपश्चितः।
किं हास्यति मनुष्यस्य मन्दस्यापि हि जीवतः॥ ५॥

मनुष्य मूर्ख हो या विद्वान्, यदि वह वाणी, बुद्धि और हाथ-पैरसे रहित होकर जीवित है तो उसे कौन-सी वस्तु त्यागेगी, वह तो सभी पुरुषार्थोंसे स्वयं ही परित्यक्त है॥

जीवन् हि कुरुते पूजां विप्राग्र्यः शशिसूर्ययोः।
ब्रुवन्नपि कथां पुण्यां तत्र कीट त्वमेष्यसि॥ ६॥

कीट! एक जगह एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते हैं। वे जीवनमें सदा सूर्य और चन्द्रमाकी पूजा किया करते हैं तथा लोगोंको पवित्र कथाएँ सुनाया करते हैं। उन्हींके यहाँ तुम (क्रमशः) पुत्ररूपसे जन्म लोगे॥ ६॥

गुणभूतानि भूतानि तत्र त्वमुपभोक्ष्यसे।
तत्र तेऽहं विनेष्यामि ब्रह्म त्वं यत्र वैष्यसि॥ ७॥

वहाँ विषयोंको पंचभूतोंका विकार मानकर अनासक्तभावसे उपभोग करोगे। उस समय मैं तुम्हारे पास आकर ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा तथा तुम जिस लोकमें जाना चाहोगे, वहीं तुम्हें पहुँचा दूँगा॥ ७॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य कीटो वर्त्मन्यतिष्ठत।
शकटो व्रजंश्च सुमहानागतश्च यदृच्छया॥ ८॥
चक्राक्रमेण भिन्नश्च कीटः प्राणान् मुमोच ह।

व्यासजीके इस प्रकार कहनेपर उस कीड़ेने बहुत अच्छा कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और बीच रास्तेमें जाकर वह ठहर गया। इतनेहीमें वह विशाल छकड़ा अकस्मात् वहाँ आ पहुँचा और उसके पहियेसे दबकर चूर-चूर हो कीड़ेने प्राण त्याग दिये॥ ८½॥

सम्भूतः क्षत्रियकुले प्रसादादमितौजसः॥ ९॥
तमृषिं द्रष्टुमगमत् सर्वास्वन्यासु योनिषु।
श्वाविद्गोधावराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम्॥ १०॥
श्वपाकशूद्रवैश्यानां क्षत्रियाणां च योनिषु।

तत्पश्चात् वह क्रमशः शाही, गोधा, सूअर, मृग, पक्षी, चाण्डाल, शूद्र और वैश्यकी योनिमें जन्म लेता हुआ क्षत्रिय-जातिमें उत्पन्न हुआ। अन्य सारी योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद अमित तेजस्वी व्यासजीकी कृपासे क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर वह उन महर्षिका दर्शन करनेके लिये उनके पास गया॥ ९-१०½॥

स कीट एवमाभाष्य ऋषिणा सत्यवादिना।
प्रनिम्म्न्याथ जग्राह पादौ मूर्ध्नि कृताञ्जलिः॥ ११॥

वह कीट-योनिमें उन सत्यवादी महर्षि वेदव्यासजीके साथ बातचीत करके जो इस प्रकार उन्नतिशील हुआ था, उसकी याद करके उस क्षत्रियने हाथ जोड़कर ऋषिके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया॥ ११॥

कीट उवाच

इदं तदतुलं स्थानमीप्सितं दशभिर्गुणैः।
यदहं प्राप्य कीटत्वमागतो राजपुत्रताम्॥ १२॥

कीट (क्षत्रिय) ने कहा—भगवन्! आज मुझे वह स्थान मिला है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है। इसे मैं दस जन्मोंसे पाना चाहता था। यह आपहीकी कृपा है कि मैं अपने दोषसे कीड़ा होकर भी आज राजकुमार हो गया हूँ॥ १२॥

वहन्ति मामतिबलाः कुञ्जरा हेममालिनः।
स्यन्दनेषु च काम्बोजा युक्ताः परमवाजिनः॥ १३॥

अब सोनेकी मालाओंसे सुशोभित अत्यन्त बलवान् गजराज मेरी सवारीमें रहते हैं। उत्तम जातिके काबुली घोड़े मेरे रथोंमें जोते जाते हैं॥ १३॥

उष्ट्राश्वतरयुक्तानि यानानि च वहन्ति माम्।
सबान्धवः सहामात्यश्चाश्नामि पिशितौदनम्॥ १४॥

ऊँटों और खच्चरोंसे जुती हुई गाड़ियाँ मुझे ढोती हैं। मैं भाई-बन्धुओं और मन्त्रियोंके साथ मांस-भात खाता हूँ॥ १४॥

गृहेषु स्वनिवासेषु सुखेषु शयनेषु च।
वरार्हेषु महाभाग स्वपामि च सुपूजितः॥ १५॥

महाभाग! श्रेष्ठ पुरुषोंमें रहने योग्य अपने निवासभूत सुन्दर महलोंके भीतर सुखद शय्याओंपर मैं बड़े सम्मानके साथ शयन करता हूँ॥ १५॥

सर्वेष्वपररात्रेषु सूतमागधबन्दिनः।
स्तुवन्ति मां यथा देवा महेन्द्रं प्रियवादिनः॥ १६॥

प्रतिदिन रातके पिछले पहरोंमें सूत, मागध और वन्दीजन मेरी स्तुति करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे देवता प्रिय वचन बोलकर महेन्द्रके गुण गाते हैं॥ १६॥

प्रसादात् सत्यसंधस्य भवतोऽमिततेजसः।
यदहं कीटतां प्राप्य सम्प्राप्तो राजपुत्रताम्॥ १७॥

आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, अमित तेजस्वी हैं, आपके प्रसादसे ही आज मैं कीड़ेसे राजपूत हो गया हूँ॥ १७॥

नमस्तेऽस्तु महाप्राज्ञ किं करोमि प्रशाधि माम्।
त्वत्तपोबलनिर्दिष्टमिदं ह्यधिगतं मया॥ १८॥

महाप्राज्ञ! आपको नमस्कार है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; आपके तपोबलसे ही मुझे

राजपद प्राप्त हुआ है॥ १८॥

व्यास उवाच

अर्चितोऽहं त्वया राजन् वाग्भिरद्य यदृच्छया।
अद्य ते कीटतां प्राप्य स्मृतिर्जाता जुगुप्सिता॥ १९॥

व्यासजीने कहा—राजन्! आज तुमने अपनी वाणीसे मेरा भलीभाँति स्तवन किया है। अभीतक तुम्हें अपनी कीट-योनिकी घृणित स्मृति अर्थात् मांस खानेकी वृत्ति बनी हुई है॥ १९॥

न तु नाशोऽस्ति पापस्य यस्त्वयोपचितः पुरा।
शूद्रेणार्थप्रधानेन नृशंसेनाततायिना॥ २०॥

तुमने पूर्वजन्ममें अर्थपरायण, नृशंस और आततायी शूद्र होकर जो पाप संचय किया था, उसका सर्वदा नाश नहीं हुआ है॥ २०॥

मम ते दर्शनं प्राप्तं तच्च वै सुकृतं त्वया।
तिर्यग्योनौ स्म जातेन मम चाभ्यर्चनात् तथा॥ २१॥
इतस्त्वं राजपुत्रत्वाद् ब्राह्मण्यं समवाप्स्यसि।

कीट-योनिमें जन्म लेकर भी जो तुमने मेरा दर्शन किया, उसी पुण्यका यह फल है कि तुम राजपूत हुए और आज जो तुमने मेरी पूजा की, इसके फलस्वरूप तुम इस क्षत्रिय-योनिके पश्चात् ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे॥

गोब्राह्मणकृते प्राणान् हुत्वाऽऽत्मानं रणाजिरे॥ २२॥
राजपुत्र सुखं प्राप्य क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
अथ मोदिष्यसे स्वर्गे ब्रह्मभूतोऽव्ययः सुखी॥ २३॥

राजकुमार! तुम नाना प्रकारके सुख भोगकर अन्तमें गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये संग्रामभूमिमें अपने प्राणोंकी आहुति दोगे। तदनन्तर ब्राह्मणरूपमें पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गसुखका उपभोग करोगे। तत्पश्चात् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप होकर अक्षय आनन्दका अनुभव करोगे॥ २२-२३॥

तिर्यग्योन्याः शूद्रतामभ्युपैति
शूद्रो वैश्यं क्षत्रियत्वं च वैश्यः।
वृत्तश्लाघी क्षत्रियो ब्राह्मणत्वं
स्वर्गं पुण्यं ब्राह्मणः साधुवृत्तः॥ २४॥

तिर्यग्-योनिमें पड़ा हुआ जीव जब ऊपरकी ओर उठता है, तब वहाँसे पहले शूद्र-भावको प्राप्त होता है। शूद्र वैश्ययोनिको, वैश्य क्षत्रिययोनिको और सदाचारसे सुशोभित क्षत्रिय ब्राह्मणयोनिको प्राप्त होता है। फिर सदाचारी ब्राह्मण पुण्यमय स्वर्गलोकको जाता है॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११८॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कीड़ेका ब्राह्मणयोनिमें जन्म लेकर ब्रह्मलोकमें जाकर सनातनब्रह्मको प्राप्त करना

भीष्म उवाच

क्षत्रधर्ममनुप्राप्तः स्मरन्नेव च वीर्यवान्।
त्यक्त्वा स कीटतां राजंश्चचार विपुलं तपः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! इस प्रकार कीटयोनिका त्याग करके अपने पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाला वह जीव अब क्षत्रिय-धर्मको प्राप्त हो विशेष शक्तिशाली हो गया और बड़ी भारी तपस्या करने लगा॥ १॥

तस्य धर्मार्थविदुषो दृष्ट्वा तद् विपुलं तपः।
आजगाम द्विजश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनस्तदा॥ २॥

तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उस राजकुमारकी उग्र तपस्या देखकर विप्रवर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजी उसके पास आये॥ २॥

व्यास उवाच

क्षात्रं देवव्रतं कीट भूतानां परिपालनम्।
क्षात्रं देवव्रतं ध्यायंस्ततो विप्रत्वमेष्यसि॥ ३॥

व्यासजीने कहा—पूर्वजन्मके कीट! प्राणियोंकी रक्षा करना देवताओंका व्रत है और यही क्षात्रधर्म है। इसका चिंतन और पालन करके तुम अगले जन्ममें ब्राह्मण हो जाओगे॥ ३॥

पाहि सर्वाः प्रजाः सम्यक् शुभाशुभविदात्मवान्।
शुभैः संविभजन् कामैरशुभानां च पावनैः॥ ४॥
आत्मवान् भव सुप्रीतः स्वधर्माचरणे रतः।
क्षात्रीं तनुं समुत्सृज्य ततो विप्रत्वमेष्यसि॥ ५॥

तुम शुभ और अशुभका ज्ञान प्राप्त करो तथा अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करके भलीभाँति प्रजाका

पालन करो। उत्तम भोगोंका दान करते हुए अशुभ दोषोंका मार्जन करके प्रजाको पावन बनाकर आत्मज्ञानी एवं सुप्रसन्न हो जाओ तथा सदा स्वधर्मके आचरणमें तत्पर रहो। तदनन्तर क्षत्रिय-शरीरका त्याग करके ब्राह्मणत्वको प्राप्त करोगे॥ ४-५॥

भीष्म उवाच

सोऽप्यरण्यमनुप्राप्य पुनरेव युधिष्ठिर।
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रजा धर्मेण पाल्य च॥ ६॥
अचिरेणैव कालेन कीटः पार्थिवसत्तम।
प्रजापालनधर्मेण प्रेत्य विप्रत्वमागतः॥ ७॥

भीष्मजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह भूतपूर्व कीट महर्षि वेदव्यासका वचन सुनकर धर्मके अनुसार प्रजाका पालन करने लगा। तत्पश्चात् वह पुनः वनमें जाकर थोड़े ही समयमें परलोकवासी हो प्रजापालनरूप धर्मके प्रभावसे ब्राह्मण-कुलमें जन्म पा गया॥ ६-७॥

ततस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा पुनरेव महायशाः।
आजगाम महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनस्तदा॥ ८॥

उसे ब्राह्मण हुआ जान महायशस्वी महाज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पुनः उसके पास आये॥ ८॥

व्यास उवाच

भो भो ब्रह्मर्षभ श्रीमन् मा व्यथिष्ठाः कथंचन।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु॥ ९॥

व्यासजीने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे! अब तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम योनियोंमें और पाप करनेवाला पाप-योनियोंमें जन्म लेता है॥ ९॥

उपपद्यति धर्मज्ञ यथापापफलोपगम्।
तस्मान्मृत्युभयात् कीट मा व्यथिष्ठाः कथंचन॥ १०॥
धर्मलोपभयं ते स्यात् तस्माद् धर्मं चरोत्तमम्।

धर्मज्ञ! मनुष्य जैसा पाप करता है, उसके अनुसार ही उसे फल भोगना पड़ता है। अतः भूतपूर्व कीट! अब तुम मृत्युके भयसे किसी प्रकार व्यथित न होओ। हाँ, तुम्हें धर्मके लोपका भय अवश्य होना चाहिये, इसलिये उत्तम धर्मका आचरण करते रहो॥ १०½॥

कीट उवाच

सुखात् सुखतरं प्राप्तो भगवंस्त्वत्कृते ह्यहम्॥ ११॥
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य पाप्मा नष्ट इहाद्य मे।

भूतपूर्व कीटने कहा—भगवन्! आपके ही प्रयत्नसे मैं अधिकाधिक सुखकी अवस्थाको प्राप्त होता गया हूँ। अब इस जन्ममें धर्ममूलक सम्पत्ति पाकर मेरा सारा पाप नष्ट हो गया॥ ११½॥

भीष्म उवाच

भगवद्वचनात् कीटो ब्राह्मण्यं प्राप्य दुर्लभम्॥ १२॥
अकरोत् पृथिवीं राजन् यज्ञयूपशताङ्किताम्।
ततः सालोक्यमगमद् ब्रह्मणो ब्रह्मवित्तमः॥ १३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भगवान् व्यासके कथनानुसार उस भूतपूर्व कीटने दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर पृथ्वीको सैकड़ों यज्ञयूपोंसे अंकित कर दिया। तदनन्तर ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होकर उसने ब्रह्मसालोक्य प्राप्त किया अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त किया॥ १२-१३॥

अवाप च पदं कीटः पार्थ ब्रह्म सनातनम्।
स्वकर्मफलनिर्वृत्तं व्यासस्य वचनात् तदा॥ १४॥

पार्थ! व्यासजीके कथनानुसार उसने स्वधर्मका पालन किया था। उसीका यह फल हुआ कि उस कीटने सनातन ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया॥ १४॥

तेऽपि यस्मात् प्रभावेण हताः क्षत्रियपुंगवाः।
सम्प्राप्तास्ते गतिं पुण्यां तस्मान्मा शोच पुत्रक॥ १५॥

बेटा! (क्षत्रिययोनिमें उस कीटने युद्ध करके प्राण त्याग किया था, इसलिये उसे उत्तम गतिकी प्राप्ति हुई।) इसी प्रकार जो प्रधान-प्रधान क्षत्रिय अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस रणभूमिमें मारे गये हैं, वे भी पुण्यमयी गतिको प्राप्त हुए हैं। अतः उसके लिये तुम शोक न करो॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि कीटोपाख्याने
एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ ११९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें कीड़ेका उपाख्यानविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११९॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास और मैत्रेयका संवाद—दानकी प्रशंसा और कर्मका रहस्य

युधिष्ठिर उवाच

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! विद्या, तप और दान—इनमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है? यह मैं आपसे पूछता हूँ, मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और मैत्रेयके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है॥ २॥

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन्।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले॥ ३॥

नरेश्वर! एक समयकी बात है—भगवान् श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजी गुप्तरूपसे विचरते हुए वाराणसी-पुरीमें जा पहुँचे। वहाँ मुनियोंकी मण्डलीमें बैठे हुए मुनिवर मैत्रेयजीके यहाँ वे उपस्थित हुए॥ ३॥

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तम।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम्॥ ४॥

पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजीको पहचानकर मैत्रेयजीने उनका पूजन किया और उन्हें उत्तम अन्न भोजन कराया॥ ४॥

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत् सार्वकामिकम्।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः॥ ५॥

वह उत्तम लाभदायक और सबकी रुचिके अनुकूल अन्न भोजन करके महामना व्यासजी बहुत संतुष्ट हुए। फिर जब वे वहाँसे चलने लगे तो मुस्कराये॥ ५॥

तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत्।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन् व्यस्मयिष्ठाः कुतश्च ते॥ ६॥
तपस्विनो धृतिमतः प्रमोदः समुपागतः।
एतत् पृच्छामि ते विद्वन्नभिवाद्य प्रणम्य च॥ ७॥

उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजीने व्यासजीसे पूछा—'धर्मात्मन्! विद्वन्! मैं आपको अभिवादन* एवं प्रणाम करके यह पूछता हूँ कि आप अभी-अभी जो मुस्कराये हैं, उसका क्या कारण है? आपको हँसी कैसे आयी? आप तो तपस्वी और धैर्यवान् हैं। आपको कैसे सहसा उल्लास हो आया? यह मुझे बताइये॥ ६-७॥

आत्मनश्च तपोभाग्यं महाभाग्यं तवेह च।
पृथगाचरतस्तात पृथगात्मसुखात्मनोः।
अल्पान्तरमहं मन्ये विशिष्टमपि चान्वयात्॥ ८॥

'तात! मैं अपनेमें तपस्याजनित सौभाग्य देखता हूँ और आपमें यहाँ सहज महाभाग्य प्रतिष्ठित है (क्योंकि आप मेरे गुरुपुत्र हैं)। जीवात्मा और परमात्मामें मैं बहुत थोड़ा अन्तर मानता हूँ। परमात्माका सभी पदार्थोंके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि वह सर्वव्यापी है। इसीलिये मैं उसे जीवात्माकी अपेक्षा श्रेष्ठ भी मानता हूँ, किंतु आप तो जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न जाननेवाले हैं, फिर आपका आचरण इस मान्यतासे भिन्न हो रहा है; क्योंकि आपको कुछ विस्मय हुआ है और मुझे नहीं हुआ है'॥ ८॥

व्यास उवाच

अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत्॥ ९॥

व्यासजीने कहा—ब्रह्मन्! अतिथिको अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छाके अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है और वाणीद्वारा अतिथिके गौरवका जो प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अतिवाद' कहते हैं। मुझे यहाँ अतिच्छन्द और अतिवाद दोनों प्राप्त हुए हैं, इसीलिये मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। (दान और आतिथ्य आदिका महत्त्व वेदोंके द्वारा प्रतिपादित हुआ है।) वेदोंका वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद क्यों असत्य कहेगा?॥ ९॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥ १०॥

वेद मनुष्यके लिये तीन बातोंको उत्तम व्रत बताते हैं—(१) किसीके प्रति द्रोह न करे, (२) दान दे तथा (३) दूसरोंसे सदा सत्य बोले॥ १०॥

इति वेदोक्तमृषिभिः पुरस्तात् परिकल्पितम्।
इदानीं चैव नः कृत्यं पुरस्ताच्च परिश्रुतम्॥ ११॥

---

* आदरणीय पुरुषके चरणोंको हाथसे पकड़कर जो नमस्कार किया जाता है, उसे अभिवादन कहते हैं और दोनों हाथोंकी अंजलि बाँधकर उसे अपने ललाटसे लगाकर जो वन्दनीय पुरुषको मस्तक झुकाया जाता है उसका नाम प्रणाम है

वेदके इस कथनका सबसे पहले ऋषियोंने पालन किया। हमने भी बहुत पहलेसे इसे सुन रखा है और इस समय भी वेदकी इस आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है॥ ११॥

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः।
तृषिताय च ते दत्तं हृदयेनानसूयता॥ १२॥

शास्त्रविधिके अनुसार दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् फल देनेवाला होता है। तुमने ईर्ष्या-रहित हृदयसे भूखे-प्यासे अतिथिको अन्न-जलका दान किया है॥ १२॥

तृषितस्तृषिताय त्वं दत्त्वैतद् दर्शनं मम।
अजैषीर्महतो लोकान् महायज्ञैरिव प्रभो॥ १३॥

प्रभो! मैं भूखा और प्यासा था। तुमने मुझ भूखे-प्यासेको अन्न-जल देकर तृप्त किया। इस पुण्यके प्रभावसे महान् यज्ञोंद्वारा प्राप्त होनेवाले बड़े-बड़े लोकोंपर तुमने विजय पायी है—यह मुझे प्रत्यक्ष दिखायी देता है॥ १३॥

ततो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च।
पुण्यस्यैव हि ते सत्त्वं पुण्यस्यैव च दर्शनम्॥ १४॥

इस दानके द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्यासे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्यका ही बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्यका ही दर्शन है॥ १४॥

पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते मन्ये कर्मविधानजम्।
अधिकं मार्जनात् तात तथा चैवानुलेपनात्॥ १५॥

तुम्हारे शरीरसे जो सदा पुण्यकी ही सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं इस दानरूप पुण्यकर्मके अनुष्ठानका फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक व्रतकी पूर्तिसे भी बढ़कर है॥ १५॥

शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज।
नो चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत्॥ १६॥

ब्रह्मन्! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओंसे श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रोंमें उसकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती॥ १६॥

यानीमान्युत्तमानीह वेदोक्तानि प्रशंससि।
तेषां श्रेष्ठतरं दानमिति मे नात्र संशयः॥ १७॥

तुम जिन-जिन वेदोक्त उत्तम कर्मोंकी यहाँ प्रशंसा करते हो, उन सबमें दान ही श्रेष्ठतर है, इस विषयमें मुझे संशय नहीं है॥ १७॥

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः॥ १८॥

दानाओंने जो मार्ग बना दिया है, उसीसे मनीषी पुरुष चलते हैं। दान करनेवाले प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हींमें धर्म प्रतिष्ठित है॥ १८॥

यथा वेदाः स्वधीताश्च यथा चेन्द्रियसंयमः।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम्॥ १९॥

जैसे वेदोंका स्वाध्याय, इन्द्रियोंका संयम और सर्वस्वका त्याग उत्तम है, उसी प्रकार इस संसारमें दान भी अत्यन्त उत्तम माना गया है॥ १९॥

त्वं हि तात महाबुद्धे सुखमेष्यसि शोभनम्।
सुखात् सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः॥ २०॥

तात! महाबुद्धे! तुमको इस दानके कारण उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमान् मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है॥ २०॥

तन्नः प्रत्यक्षमेवेदमुपलभ्यमसंशयम्।
श्रीमन्तः प्राप्नुवन्त्यर्थान् दानं यज्ञं तथा सुखम्॥ २१॥

यह बात हमलोगोंके सामने प्रत्यक्ष है। हमें निःसंदेह ऐसा ही समझना चाहिये। तुम-जैसे श्रीसम्पन्न पुरुष जब धन पाते हैं, तब उससे दान, यज्ञ और सुख भोग करते हैं॥ २१॥

सुखादेव परं दुःखं दुःखादप्यपरं सुखम्।
दृश्यते हि महाप्राज्ञ नियतं वै स्वभावतः॥ २२॥

महाप्राज्ञ! किंतु जो लोग विषयसुखोंमें आसक्त हैं, वे सुखसे ही महान् दुःखमें पड़ते हैं और जो तपस्या आदिके द्वारा दुःख उठाते हैं, उन्हें दुःखसे ही सुखकी प्राप्ति होती देखी जाती है। सुख और दुःख मनुष्यके स्वभावके अनुसार नियत हैं॥ २२॥

त्रिविधानीह वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः।
पुण्यमन्यत् पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम्॥ २३॥

इस जगत्में मनीषी पुरुषोंने मनुष्यके तीन प्रकारके आचरण बतलाये हैं—पुण्यमय, पापमय तथा पुण्य-पाप दोनोंसे रहित॥ २३॥

न वृत्तं मन्यते तस्य मन्यते न च पातकम्।
तथा स्वकर्मनिर्वृत्तं न पुण्यं न च पापकम्॥ २४॥

ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है। अतः उसके किये हुए कर्मको न पुण्य माना जाता है न पाप। उसे अपने कर्मजनित पुण्य और पापकी प्राप्ति होती ही नहीं है॥ २४॥

यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः॥ २५॥

जो यज्ञ, दान और तपस्यामें प्रवीण रहते हैं, वे ही मनुष्य पुण्य कर्म करनेवाले हैं तथा जो प्राणियोंसे द्रोह करते हैं, वे ही पापाचारी समझे जाते हैं॥ २५॥

द्रव्याण्याददते चैव दुःखं यान्ति पतन्ति च।
ततोऽन्यत् कर्म यत्किंचिन्न पुण्यं न च पातकम्॥ २६॥

जो मनुष्य दूसरोंके धन चुराते हैं, वे दुःख पाते और नरकमें पड़ते हैं। इन उपर्युक्त शुभाशुभ कर्मोंसे भिन्न जो साधारण चेष्टा है, वह न तो पुण्य है और न तो पाप ही है॥ २६॥

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च।
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः॥ २७॥

महर्षे! तुम आनन्दपूर्वक स्वधर्म-पालनमें रत रहो, तुम्हारी निरन्तर उन्नति हो, तुम प्रसन्न रहो, दान दो और यज्ञ करो। विद्वान् और तपस्वी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२०॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मणको अन्नदानकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच मैत्रेयः कर्मपूजकः।
अत्यन्तश्रीमति कुले जातः प्राज्ञो बहुश्रुतः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीके ऐसा कहनेपर कर्मपूजक मैत्रेयने जो अत्यन्त श्रीसम्पन्न कुलमें उत्पन्न हुए बहुश्रुत विद्वान् थे, उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया॥

मैत्रेय उवाच

असंशयं महाप्राज्ञ यथैवात्थ तथैव तत्।
अनुज्ञातश्च भवता किंचिद् ब्रूयामहं विभो॥ २॥

मैत्रेय बोले—महाप्राज्ञ! आप जैसा कहते हैं ठीक वैसी ही बात है, इसमें संशय नहीं है। प्रभो! यदि आप आज्ञा दें तो मैं कुछ कहूँ॥ २॥

व्यास उवाच

यद् यदिच्छसि मैत्रेय यावद् यावद् यथा यथा।
ब्रूहि तत्त्वं महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव॥ ३॥

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ मैत्रेय! तुम जो-जो, जितनी-जितनी और जैसी-जैसी बातें कहना चाहो, कहो। मैं तुम्हारी बातें सुनूँगा॥ ३॥

मैत्रेय उवाच

निर्दोषं निर्मलं चैवं वचनं दानसंहितम्।
विद्यातपोभ्यां हि भवान् भावितात्मा न संशयः॥ ४॥

मैत्रेय बोले—मुने! आपने दानके सम्बन्धमें जो बातें बतायी हैं, वे दोषरहित और निर्मल हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपने विद्या और तपस्यासे अपने अन्तःकरणको परम पवित्र बना लिया है॥ ४॥

भवतो भावितात्मत्वाल्लाभोऽयं सुमहान् मम।
भूयो बुद्ध्यानुपश्यामि सुसमृद्धतपा इव॥ ५॥

आप शुद्धचित्त हैं, इसलिये आपके समागमसे मुझे यह महान् लाभ पहुँचा है। यह बात मैं समृद्धिशाली तपवाले महर्षिके समान बुद्धिसे बारंबार विचारकर प्रत्यक्ष देखता हूँ॥

अपि नो दर्शनादेव भवतोऽभ्युदयो भवेत्।
मन्ये भवत्प्रसादोऽयं तद्धि कर्म स्वभावतः॥ ६॥

आपके दर्शनसे ही हमलोगोंका महान् अभ्युदय हो सकता है। आपने जो दर्शन दिया, यह आपकी बहुत बड़ी कृपा है। मैं ऐसा ही मानता हूँ। यह कर्म भी आपकी कृपासे ही स्वभावतः बन गया है॥ ६॥

तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥ ७॥

ब्राह्मणत्वके तीन कारण माने गये हैं—तपस्या, शास्त्रज्ञान और विशुद्ध ब्राह्मणकुलमें जन्म। जो इन तीनों गुणोंसे सम्पन्न है, वही सच्चा ब्राह्मण है॥ ७॥

अस्मिंस्तृप्ते च तृप्यन्ते पितरो दैवतानि च।
न हि श्रुतवतां किंचिदधिकं ब्राह्मणाद्ऋते॥ ८॥

ऐसे ब्राह्मणके तृप्त होनेपर देवता और पितर भी तृप्त हो जाते हैं। विद्वानोंके लिये ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई मान्य नहीं है॥ ८॥

अन्धं स्यात् तम एवेदं न प्रज्ञायेत किंचन।
चातुर्वर्ण्यं न वर्तेत धर्माधर्मावृतानृते॥ ९॥

यदि ब्राह्मण न हों तो यह सारा जगत् अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न हो जाय। किसीको कुछ सूझ न पड़े तथा चारों वर्णोंकी स्थिति, धर्म-अधर्म और सत्यासत्य कुछ भी न रह जाय॥ ९॥

यथा हि सुकृते क्षेत्रे फलं विन्दति मानवः।
एवं दत्त्वा श्रुतवति फलं दाता समश्नुते॥ १०॥

जैसे मनुष्य अच्छी तरह जोतकर तैयार किये हुए खेतमें बीज डालनेपर उसका फल पाता है, उसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मणको दान देकर दाता निश्चय ही उसके फलका भागी होता है॥ १०॥

ब्राह्मणश्चेन्न विन्देत श्रुतवृत्तोपसंहितः।
प्रतिग्रहीता दानस्य मोघं स्यात् धनिनां धनम्॥ ११॥

यदि विद्या और सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मण जो दान लेनेका प्रधान अधिकारी है, धन न पा सके तो धनियोंका धन व्यर्थ हो जाय॥ ११॥

अदन्नविद्वान् हन्त्यन्नमद्यमानं च हन्ति तम्।
तं चान्नं पाति यश्चान्नं स हन्ता हन्यतेऽबुधः॥ १२॥

मूर्ख मनुष्य यदि किसीका अन्न खाता है तो वह उस अन्नको नष्ट करता है (अर्थात् कर्ताको उसका कुछ फल नहीं मिलता)। इसी प्रकार वह अन्न भी उस मूर्खको नष्ट कर डालता है। जो सुपात्र होनेके कारण अन्न और दाताकी रक्षा करता है, उसकी भी वह अन्न रक्षा करता है। जो मूर्ख दानके फलका हनन करता है, वह स्वयं भी मारा जाता है॥ १२॥

प्रभुर्ह्यन्नमदन् विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः।
स चान्नाज्जायते तस्मात् सूक्ष्म एष व्यतिक्रमः॥ १३॥

प्रभाव और शक्तिसे सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण यदि अन्न भोजन करता है तो वह पुनः अन्नका उत्पादन करता है, किंतु वह स्वयं अन्नसे उत्पन्न होता है, इसलिये यह व्यतिक्रम सूक्ष्म (दुर्विज्ञेय) है अर्थात् यद्यपि वृष्टिसे अन्नकी और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है; किंतु यह प्रजा (विद्वान् ब्राह्मण)से अन्नकी उत्पत्तिका विषय दुर्विज्ञेय है॥ १३॥

यदेव ददतः पुण्यं तदेव प्रतिगृह्णतः।
न ह्येकचक्रं वर्तेत इत्येवमृषयो विदुः॥ १४॥

'दान देनेवालेको जो पुण्य होता है, वही दान लेनेवालेको भी (यदि वह योग्य अधिकारी है तो) होता है। (क्योंकि दोनों एक दूसरेके उपकारक होते हैं) एक पहियेसे गाड़ी नहीं चलती—प्रतिग्रहीताके बिना दाताका दान सफल नहीं हो सकता।' ऐसी ऋषियोंकी मान्यता है॥

यत्र वै ब्राह्मणाः सन्ति श्रुतवृत्तोपसंहिताः।
तत्र दानफलं पुण्यमिह चामुत्र चाश्नुते॥ १५॥

जहाँ विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण रहते हैं, वहीं दिये हुए दानका फल इहलोक और परलोकमें मनुष्य भोगता है॥ १५॥

ये योनिशुद्धाः सततं तपस्यभिरता भृशम्।
दानाध्ययनसम्पन्नास्ते वै पूज्यतमाः सदा॥ १६॥

जो ब्राह्मण विशुद्ध कुलमें उत्पन्न, निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले, बहुत दानपरायण तथा अध्ययनसम्पन्न हैं, वे ही सदा पूज्य माने गये हैं॥ १६॥

तैर्हि सद्भिः कृतः पन्थास्तेन यातो न मुह्यते।
ते हि स्वर्गस्य नेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः॥ १७॥

ऐसे सत्पुरुषोंने जिस मार्गका निर्माण किया है, उससे चलनेवालेको कभी मोह नहीं होता; क्योंकि वे मनुष्योंको स्वर्गलोकमें ले जानेवाले तथा सनातन यज्ञनिर्वाहक हैं॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायामेकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२१॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यास-मैत्रेय-संवाद—तपकी प्रशंसा तथा गृहस्थके उत्तम कर्तव्यका निर्देश

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् मैत्रेयं प्रत्यभाषत।
दिष्ट्यैवं त्वं विजानासि दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मैत्रेयके इस प्रकार कहनेपर भगवान् वेदव्यास उनसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, जो ऐसी बातोंका ज्ञान रखते हो। भाग्यसे ही तुमको ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है॥ १॥

लोको ह्यार्यगुणानेव भूयिष्ठं तु प्रशंसति।
रूपमानवयोमानश्रीमानाश्चाप्यसंशयम्॥ २॥
दिष्ट्या नाभिभवन्ति त्वां दैवस्तेऽयमनुग्रहः।

'संसारके लोग उत्तम गुणवाले पुरुषकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं। सौभाग्यकी बात है कि रूप, अवस्था और सम्पत्तिके अभिमान तुम्हारे ऊपर प्रभाव नहीं डालते हैं। यह तुमपर देवताओंका महान् अनुग्रह है। इसमें संशय नहीं है॥ २½॥

यत् ते भृशतरं दानाद् वर्तयिष्यामि तच्छृणु॥ ३॥
यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥ ४॥

'अस्तु, अब मैं दानसे भी उत्तम धर्मका तुमसे वर्णन करता हूँ, सुनो। इस जगत्में जितने शास्त्र और जो कोई भी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब वेदको ही सामने रखकर क्रमशः प्रचलित हुए हैं॥ ३-४॥

अहं दानं प्रशंसामि भवानपि तपःश्रुते।
तपः पवित्रं वेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम्॥ ५॥

'मैं दानकी प्रशंसा करता हूँ, तुम भी तपस्या और शास्त्रज्ञानकी प्रशंसा करते हो, वास्तवमें तपस्या पवित्र और वेदाध्ययन एवं स्वर्गका उत्तम साधन है॥ ५॥

तपसा महदाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम्।
तपसैव चापनुदेद् यच्चान्यदपि दुष्कृतम्॥ ६॥

'मैंने सुना है कि तपस्या और विद्या दोनोंसे ही मनुष्य महान् पदको प्राप्त करता है। अन्यान्य जो पाप हैं, उन्हें भी तपस्यासे ही वह दूर कर सकता है॥ ६॥

यद् यद्धि किंचित् संधाय पुरुषस्तप्यते तपः।
सर्वमेतदवाप्नोति विद्यया चेति नः श्रुतम्॥ ७॥

'जो कोई भी उद्देश्य लेकर पुरुष तपस्यामें प्रवृत्त होता है, वह सब उसे तप और विद्यासे प्राप्त हो जाता है; यह हमारे सुननेमें आया है॥ ७॥

दुरन्वयं दुष्प्रधर्षं दुरापं दुरतिक्रमम्।
सर्वं वै तपसाभ्येति तपो हि बलवत्तरम्॥ ८॥

'जिससे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है, जो दुर्धर्ष, दुर्लभ और दुर्लङ्घ्य है, वह सब तपस्यासे सुलभ हो जाता है; क्योंकि तपस्याका बल सबसे बड़ा है॥ ८॥

सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसा तरते सर्वमेनसश्च प्रमुच्यते॥ ९॥

'शराबी, चोर, गर्भहत्यारा, गुरुकी शय्यापर शयन करनेवाला पापी भी तपस्याद्वारा सम्पूर्ण संसारसे पार हो जाता है और अपने पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥

सर्वविद्यस्तु चक्षुष्मानपि यादृशतादृशम्।
तपस्विनं तथैवाहुस्ताभ्यां कार्यं सदा नमः॥ १०॥

'जो सब प्रकारकी विद्याओंमें प्रवीण है, वही नेत्रवान् है और तपस्वी, चाहे जैसा हो उसे भी नेत्रवान् ही कहा जाता है। इन दोनोंको सदा नमस्कार करना चाहिये॥

सर्वे पूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
दानप्रदाः सुखं प्रेत्य प्राप्नुवन्तीह च श्रियम्॥ ११॥

'जो विद्याके धनी और तपस्वी हैं, वे सब पूजनीय हैं तथा दान देनेवाले भी इस लोकमें धन-सम्पत्ति और परलोकमें सुख पाते हैं॥ ११॥

इमं च ब्रह्मलोकं च लोकं च बलवत्तरम्।
अन्नदानैः सुकृतिनः प्रतिपद्यन्ति लौकिकाः॥ १२॥

संसारके पुण्यात्मा पुरुष अन्न-दान देकर इस लोकमें भी सुखी होते हैं और मृत्युके बाद ब्रह्मलोक तथा दूसरे शक्तिशाली लोकको प्राप्त कर लेते हैं॥

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च।
स दाता यत्र यत्रैति सर्वतः सम्प्रणूयते॥ १३॥

'दानी स्वयं पूजित और सम्मानित होकर दूसरोंका पूजन और सम्मान करते हैं। दाता जहाँ-जहाँ जाते हैं, सब ओर उनकी स्तुति की जाती है॥ १३॥

अकर्ता चैव कर्ता च लभते यस्य यादृशम्।
यदि चोर्ध्वं यद्यधो वा स्वाँल्लोकानभियास्यति॥ १४॥

'मनुष्य दान करता हो या न करता हो, वह ऊपरके लोकमें रहता हो या नीचेके लोकमें, जिसे कर्मानुसार जैसा लोक प्राप्त होगा, वह अपने उसी लोकमें जायगा॥

प्राप्स्यसि त्वन्नपानानि यानि वाञ्छसि कानिचित्।
मेधाव्यसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान्॥ १५॥
कौमारचारी व्रतवान् मैत्रेय निरतो भव।
एतद् गृहाण प्रथमं प्रशस्तं गृहमेधिनाम्॥ १६॥

'मैत्रेयजी! तुम जो कुछ चाहोगे, उसके अनुसार तुमको अन्न-पानकी सामग्री प्राप्त होगी। तुम बुद्धिमान्, कुलीन, शास्त्रज्ञ और दयालु हो। तुम्हारी तरुण अवस्था है और तुम व्रतधारी हो। अतः सदा धर्म-पालनमें लगे रहो और गृहस्थोंके लिये जो सबसे उत्तम एवं मुख्य कर्तव्य है, उसे ग्रहण करो—ध्यान देकर सुनो॥

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।
यस्मिन्नेवं कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते॥ १७॥

'जिस कुलमें पति अपनी पत्नीसे और पत्नी अपने पतिसे संतुष्ट रहती हो, वहाँ सदा कल्याण होता है॥

अद्भिर्गात्रान्मलमिव तमोऽग्निप्रभया यथा।
दानेन तपसा चैव सर्वपापमपोहति॥ १८॥

'जिस प्रकार जलसे शरीरका मल धुल जाता है और अग्निकी प्रभासे अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार दान और तपस्यासे मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ १८॥

(दानेन तपसा चैव विष्णोरभ्यर्चनेन च।
ब्राह्मणः स महाभाग तरेत् संसारसागरात्॥

स्वकर्मशुद्धसत्त्वानां तपोभिर्निर्मलात्मनाम्।
विद्यया गतमोहानां तारणाय हरिः स्मृतः॥
तदर्चनपरो नित्यं तद्भक्तस्तं नमस्कुरु।
तद्भक्ता न विनश्यन्ति ह्यष्टाक्षरपरायणाः॥
प्रणवोपासनपराः परमार्थपरास्त्विह।
एतैः पावय चात्मानं सर्वपापमपोह्य च॥)

'महाभाग! ब्राह्मण दान, तपस्या और भगवान् विष्णुकी आराधनाके द्वारा संसारसागरसे पार हो जाता है। जिन्होंने अपने वर्णोचित कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तःकरणको शुद्ध बना लिया है, तपस्याद्वारा जिनका चित्त निर्मल हो गया है तथा विद्याके प्रभावसे जिनका मोह दूर हो गया है, ऐसे मनुष्योंके उद्धारके लिये भगवान् श्रीहरि माने गये हैं अर्थात् उनका स्मरण करते ही वे अवश्य उद्धार करते हैं। अतः तुम भगवान् विष्णुकी आराधनामें तत्पर हो सदा उनके भक्त बने रहो और निरन्तर उन्हें नमस्कार करो। अष्टाक्षर मन्त्रके जपमें तत्पर रहनेवाले भगवद्भक्त कभी नष्ट नहीं होते। जो इस जगत्में प्रणवोपासनामें संलग्न और परमार्थ-साधनमें तत्पर हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके संगसे सारा पाप दूर करके अपने आपको पवित्र करो॥

स्वस्ति प्राप्नुहि मैत्रेय गृहान् साधु व्रजाम्यहम्।
एतन्मनसि कर्तव्यं श्रेय एवं भविष्यति॥ १९॥

'मैत्रेय! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं सावधानीके साथ अपने आश्रमको जा रहा हूँ। मैंने जो कुछ बताया है, उसे याद रखना; इससे तुम्हारा कल्याण होगा'॥ १९॥

तं प्रणम्याथ मैत्रेयः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
स्वस्ति प्राप्नोतु भगवानित्युवाच कृताञ्जलिः॥ २०॥

तब मैत्रेयजीने व्यासजीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप मंगल प्राप्त करें'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि मैत्रेयभिक्षायां द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें मैत्रेयकी भिक्षाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर २४ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शाण्डिली और सुमनाका संवाद—पतिव्रता स्त्रियोंके कर्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मविदां वर।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ पितामह! साध्वी स्त्रियोंके सदाचारका क्या स्वरूप है? यह मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ। उसे मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम्।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! देवलोककी बात है—सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली सर्वज्ञा एवं मनस्विनी शाण्डिलीदेवीसे केकयराजकी पुत्री सुमनाने इस प्रकार प्रश्न किया—॥ २॥

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता॥ ३॥

'कल्याणि! तुमने किस बर्ताव अथवा किस सदाचारके प्रभावसे समस्त पापोंका नाश करके देवलोकमें पदार्पण किया है?॥ ३॥

हुताशनशिखेव त्वं ज्वलमाना स्वतेजसा।
सुता ताराधिपस्येव प्रभया दिवमागता॥ ४॥

'तुम अपने तेजसे अग्निकी ज्वालाके समान प्रज्वलित हो रही हो और चन्द्रमाकी पुत्रीके समान अपनी उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित होती हुई स्वर्ग-लोकमें आयी हो॥ ४॥

अरजांसि च वस्त्राणि धारयन्ती गतक्लमा।
विमानस्था शुभा भासि सहस्रगुणमोजसा॥ ५॥

निर्मल वस्त्र धारण किये थकावट और परिश्रमसे रहित होकर विमानपर बैठी हो। तुम्हारी मंगलमयी आकृति है, तुम अपने तेजसे सहस्रगुनी शोभा पा रही हो॥ ५॥

न त्वमल्पेन तपसा दानेन नियमेन वा।
इमं लोकमनुप्राप्ता त्वं हि तत्त्वं वदस्व मे॥ ६॥

'थोड़ी-सी तपस्या थोड़े-से दान या छोटे-मोटे नियमोंका पालन करके तुम इस लोकमें नहीं आयी हो। अतः अपनी साधनाके सम्बन्धमें सच्ची-सच्ची बात बताओ'॥

देवलोकमें पतिव्रता शाण्डिली और सुमनाकी बातचीत

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत्॥ ७॥

सुमनाके इस प्रकार मधुर वाणीमें पूछनेपर मनोहर मुसकानवाली शाण्डिलीने उससे नम्रतापूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार कहा— ॥ ७॥

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता॥ ८॥

'देवि! मैंने गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया, वल्कलवस्त्र नहीं पहना, मूँड़ नहीं मुड़ाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ नहीं रखायीं। वह सब करके मैं देवलोकमें नहीं आयी हूँ॥ ८॥

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम्॥ ९॥

'मैंने सदा सावधान रहकर अपने पतिदेवके प्रति मुँहसे कभी अहितकर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं॥ ९॥

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी॥ १०॥

'मैं सदा सास-ससुरकी आज्ञामें रहती और देवता, पितर तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें सदा सावधान होकर संलग्न रहती थी॥ १०॥

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम्।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च॥ ११॥

'किसीकी चुगली नहीं खाती थी। चुगली करना मेरे मनको बिलकुल नहीं भाता था। मैं घरका दरवाजा छोड़कर अन्यत्र नहीं खड़ी होती और देरतक किसीसे बात नहीं करती थी॥ ११॥

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा॥ १२॥

'मैंने कभी एकान्तमें या सबके सामने किसीके साथ अश्लील परिहास नहीं किया तथा मेरी किसी क्रियाद्वारा किसीका अहित भी नहीं हुआ। मैं ऐसे कार्योंमें कभी प्रवृत्त नहीं होती थी॥ १२॥

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम्।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता॥ १३॥

'यदि मेरे स्वामी किसी कार्यसे बाहर जाकर फिर घरको लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठनेके लिये आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी॥ १३॥

यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम्॥ १४॥

'मेरे स्वामी जिस अन्नको ग्रहण करने योग्य नहीं समझते थे तथा जिस भक्ष्य, भोज्य या लेह्य आदिको वे नहीं पसंद करते थे, उन सबको मैं भी त्याग देती थी॥ १४॥

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु।
प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च॥ १५॥

'सारे कुटुम्बके लिये जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं सबेरे ही उठकर कर-करा लेती थी॥ १५॥

(अग्निसंरक्षणपरा गृहशुद्धिं च कारये।
कुमारान् पालये नित्यं कुमारीं परिशिक्षये॥
आत्मप्रियाणि हित्वापि गर्भसंरक्षणे रता।
बालानां वर्जये नित्यं शापं कोपं प्रतापनम्॥
अविक्षिप्तानि धान्यानि नान्नविक्षेपणं गृहे।
रत्नवत् स्पृहये गेहे गावः सयवसोदकाः॥
समुद्गम्य च शुद्धाहं भिक्षां दद्यां द्विजातिषु।)

'मैं अग्निहोत्रकी रक्षा करती और घरको लीप-पोतकर शुद्ध रखती थी। बच्चोंका प्रतिदिन पालन करती और कन्याओंको नारीधर्मकी शिक्षा देती थी। अपनेको प्रिय लगनेवाली खाद्य वस्तुएँ त्यागकर भी गर्भकी रक्षामें ही सदा संलग्न रहती थी। बच्चोंको शाप (गाली) देना, उनपर क्रोध करना अथवा उन्हें सताना आदि मैं सदाके लिये त्याग चुकी थी। मेरे घरमें कभी अनाज छीटे नहीं जाते थे। किसी भी अन्नको बिखेरा नहीं जाता था। मैं अपने घरमें गौओंको घास-भूसा खिलाकर, पानी पिलाकर तृप्त करती थी और रत्नकी भाँति उन्हें सुरक्षित रखनेकी इच्छा करती थी तथा शुद्ध अवस्थामें मैं आगे बढ़कर ब्राह्मणोंको भिक्षा देती थी॥

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित्।
मंगलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा॥ १६॥

यदि मेरे पति किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियमसे रहकर उनके कल्याणके लिये नाना प्रकारके मांगलिक कार्य किया करती थी॥

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम्।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि॥ १७॥

'स्वामीके बाहर चले जानेपर मैं आँखोंमें आँजन लगाना, ललाटमें गोरोचनका तिलक करना, तैलाभ्यंगपूर्वक स्नान करना, फूलोंकी माला पहनना, अंगोंमें अंगराग लगाना तथा शृंगार करना पसंद नहीं करती थी॥ १७॥

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः॥ १८॥

'जब स्वामी सुखपूर्वक सो जाते उस समय आवश्यक कार्य आ जानेपर भी मैं उन्हें कभी नहीं जगाती थी। इससे मेरे मनको विशेष संतोष प्राप्त होता था॥

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशना॥ १९॥

'परिवारके पालन-पोषणके कार्यके लिये भी मैं उन्हें कभी नहीं तंग करती थी। घरकी गुप्त बातोंको सदा छिपाये रखती और घर-आँगनको सदा झाड़-बुहारकर साफ रखती थी॥ १९॥

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते॥ २०॥

'जो स्त्री सदा सावधान रहकर इस धर्ममार्गका पालन करती है, वह नारियोंमें अरुन्धतीके समान आदरणीय होती है और स्वर्गलोकमें भी उसकी विशेष प्रतिष्ठा होती है'॥ २०॥

भीष्म उवाच

एतदाख्याय सा देवी सुमनायै तपस्विनी।
पतिधर्मं महाभागा जगामादर्शनं तदा॥ २१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुमनाको इस प्रकार पातिव्रत्य धर्मका उपदेश देकर तपस्विनी महाभागा शाण्डिली देवी तत्काल वहाँ अदृश्य हो गयीं॥ २१॥

यश्चेदं पाण्डवाख्यानं पठेत् पर्वणि पर्वणि।
स देवलोकं सम्प्राप्य नन्दने स सुखी वसेत्॥ २२॥

पाण्डुनन्दन! जो प्रत्येक पर्वके दिन इस आख्यानका पाठ करता है, वह देवलोकमें पहुँचकर नन्दनवनमें सुखपूर्वक निवास करता है॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि शाण्डिलीसुमनासंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें शाण्डिली और सुमनाका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारदका पुण्डरीकको भगवान् नारायणकी आराधनाका उपदेश तथा उन्हें भगवद्धामकी प्राप्ति, सामगुणकी प्रशंसा, ब्राह्मणका राक्षसके सफेद और दुर्बल होनेका कारण बताना

(युधिष्ठिर उवाच

यज्ज्ञेयं परमं कृत्यमनुष्ठेयं महात्मभिः।
सारं मे सर्वशास्त्राणां वक्तुमर्हस्यनुग्रहात्॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! जो सर्वोत्तम कर्तव्य-रूपसे जानने योग्य है, महात्मा पुरुष जिसका अनुष्ठान करना अपना धर्म समझते हैं तथा जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है, उस श्रेयका कृपापूर्वक वर्णन कीजिये॥

भीष्म उवाच

श्रूयतामिदमत्यन्तं गूढं संसारमोचनम्।
श्रोतव्यं च त्वया सम्यग् ज्ञातव्यं च विशाम्पते॥

भीष्मजीने कहा—प्रजानाथ! जो अत्यन्त गूढ़, संसारबन्धनसे मुक्त करनेवाला और तुम्हारे द्वारा श्रवण करने एवं भलीभाँति जाननेके योग्य है, उस परम श्रेयका वर्णन सुनो॥

पुण्डरीकः पुरा विप्रः पुण्यतीर्थे जपान्वितः।
नारदं परिपप्रच्छ श्रेयो योगपरं मुनिम्॥
नारदश्चाब्रवीदेनं ब्रह्मणोक्तं महात्मना॥

प्राचीन कालकी बात है, पुण्डरीक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण किसी पुण्यतीर्थमें सदा जप किया करते थे। उन्होंने योगपरायण मुनिवर नारदजीसे श्रेय (कल्याणकारी साधन) के विषयमें पूछा। तब नारदजीने महात्मा ब्रह्माजीके द्वारा बताये हुए श्रेयका उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहितस्तात ज्ञानयोगमनुत्तमम्।
अप्रभूतं प्रभूतार्थं वेदशास्त्रार्थसारकम्॥

नारदजीने कहा—तात! तुम सावधान होकर परम उत्तम ज्ञानयोगका वर्णन सुनो। यह किसी व्यक्ति-विशेषसे नहीं प्रकट हुआ है—अनादि है, प्रचुर अर्थका साधक है तथा वेदों और शास्त्रोंके अर्थका सारभूत है॥

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः।
स एव सर्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते॥

जो चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिसे उसका साक्षिभूत पचीसवाँ तत्त्व पुरुष कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, उसीको नर कहते हैं॥

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः॥

नरसे सम्पूर्ण तत्त्व प्रकट हुए हैं, इसलिये उन्हें नार कहते हैं। नार ही भगवान्‌का अयन—निवासस्थान है, इसलिये वे नारायण कहलाते हैं॥

नारायणाज्जगत् सर्वं सर्गकाले प्रजायते।
तस्मिन्नेव पुनस्तच्च प्रलये सम्प्रलीयते॥

सृष्टिकालमें यह सारा जगत् नारायणसे ही प्रकट होता है और प्रलयकालमें फिर उन्हींमें इसका लय होता है॥

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परात् परम्॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, परमपुरुष नारायण ही सम्पूर्ण तत्त्व हैं, वे ही परसे भी परे हैं। उनके सिवा दूसरा कोई परात्पर तत्त्व नहीं है॥

वासुदेवं तथा विष्णुमात्मानं च तथा विदुः।
संज्ञाभेदैः स एवैकः सर्वशास्त्राभिसंस्कृतः॥

उन्हींको वासुदेव, विष्णु तथा आत्मा कहते हैं। संज्ञाभेदसे एकमात्र नारायण ही सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा वर्णित होते हैं॥

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

समस्त शास्त्रोंका आलोडन करके बारंबार विचार करनेपर एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये॥

तस्मात्त्वं गहनान् सर्वांस्त्यक्त्वा शास्त्रार्थविस्तरान्।
अनन्यचेता ध्यायस्व नारायणमजं विभुम्॥

अतः तुम शास्त्रार्थके सम्पूर्ण गहन विस्तारका त्याग करके अनन्यचित्त होकर सर्वव्यापी अजन्मा भगवान् नारायणका ध्यान करो॥

मुहूर्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः॥

जो आलस्य छोड़कर दो घड़ी भी नारायणका ध्यान करता है, वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। फिर जो निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें तत्पर रहता है, उसकी तो बात ही क्या है॥

नमो नारायणायेति यो वेद ब्रह्म शाश्वतम्।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

जो '**ॐ नमो नारायणाय**' इस अष्टाक्षर मन्त्रको सनातन ब्रह्मरूप जानता है और अन्तकालमें इसका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त कर लेता है॥

श्रवणान्मननाच्चैव गीतिस्तुत्यर्चनादिभिः।
आराध्यं सर्वदा ब्रह्म पुरुषेण हितैषिणा॥

जो मनुष्य अपना हित चाहता हो, वह सदा श्रवण, मनन, गीत, स्तुति और पूजन आदिके द्वारा सर्वदा ब्रह्मस्वरूप नारायणकी आराधना करे॥

लिप्यते न स पापेन नारायणपरायणः।
पुनाति सकलं लोकं सहस्त्रांशुरिवोदितः॥

नारायणके भजनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता। वह उदित हुए सहस्र किरणोंवाले सूर्यकी भाँति समस्त लोकको पवित्र कर देता है॥

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
केशवाराधनं हित्वा नैव यान्ति परां गतिम्॥

ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थ हो या संन्यासी, भगवान् विष्णुकी आराधना छोड़ देनेपर ये कोई भी परम गतिको नहीं प्राप्त होते हैं॥

जन्मान्तरसहस्त्रेषु दुर्लभा तद्गता मतिः।
तद्भक्तवत्सलं देवं समाराधय सुव्रत॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुण्डरीक! सहस्रों जन्म धारण करनेपर भी भगवान् विष्णुमें मन और बुद्धिका लगना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम उन भक्तवत्सल नारायणदेवकी भलीभाँति आराधना करो॥

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तस्तु स विप्रोऽभ्यर्चयद्धरिम्।
स्वप्नेऽपि पुण्डरीकाक्षं शङ्खचक्रगदाधरम्॥
किरीटकुण्डलधरं लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभम्।
तं दृष्ट्वा देवदेवेशं प्राणमत् सम्भ्रमान्वितः॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! नारदजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर विप्रवर पुण्डरीक भगवान् श्रीहरिकी आराधना करने लगे। वे स्वप्नमें भी शंख-चक्र गदाधारी, किरीट और कुण्डलसे सुशोभित, सुन्दर श्रीवत्स-चिह्न एवं कौस्तुभमणि धारण करनेवाले कमलनयन नारायण देवका दर्शन करते थे और उन देवदेवेश्वरको देखते ही बड़े वेगसे उठकर उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम करते थे॥

अथ कालेन महता तथा प्रत्यक्षतां गतः।
संस्तुतः स्तुतिभिर्वेदैर्देवगन्धर्वकिन्नरैः॥

तदनन्तर दीर्घकालके बाद भगवान्‌ने उसी रूपमें पुण्डरीकको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस समय सम्पूर्ण वेद तथा देवता, गन्धर्व और किन्नर नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते थे॥

अथ तेनैव भगवानात्मलोकमधोक्षजः।
गतः सम्पूजितः सर्वैः स योगनिलयो हरिः॥

योग ही जिनका निवासस्थान है, वे भगवान् अधोक्षज श्रीहरि सबके द्वारा पूजित हो उस भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर ही पुनः अपने धामको चले गये॥

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र तद्भक्तस्तत्परायणः।
अर्चयित्वा यथायोगं भजस्व पुरुषोत्तमम्॥

राजेन्द्र! इसलिये तुम भी भगवान्‌के भक्त एवं शरणागत होकर उनकी यथायोग्य पूजा करके उन्हीं पुरुषोत्तमके भजनमें लगे रहो॥

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम्।
निरुपममुपमेयं योगिविज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं सम्प्रपद्यस्व विष्णुम्॥)

जो अजर, अमर, एक (अद्वितीय), ध्येय, अनादि, अनन्त, सगुण, निर्गुण, सबके आदि कारण, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, उपमारहित, उपमाके योग्य तथा योगियोंके लिये ज्ञान-गम्य हैं, उन त्रिभुवनगुरु भगवान् विष्णुकी शरण लो॥

युधिष्ठिर उवाच

साम्नि चापि प्रदाने च ज्यायः किं भवतो मतम्।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ यदत्र व्यतिरिच्यते॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! आपके मतमें साम और दानमें कौन-सा श्रेष्ठ है? इनमें जो उत्कृष्ट हो, उसे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

साम्ना प्रसाद्यते कश्चिद् दानेन च तथा परः।
पुरुषप्रकृतिं ज्ञात्वा तयोरेकतरं भजेत्॥ २॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! कोई मनुष्य सामसे प्रसन्न होता है और कोई दानसे। अतः पुरुषके स्वभावको समझकर दोनोंमेंसे एकको अपनाना चाहिये॥ २॥

गुणांस्तु शृणु मे राजन् सान्त्वस्य भरतर्षभ।
दारुणान्यपि भूतानि सान्त्वेनाराधयेद् यथा॥ ३॥

राजन्! भरतश्रेष्ठ! अब तुम सामके गुणोंको सुनो। सामके द्वारा मनुष्य भयानक-से-भयानक प्राणीको वशमें कर सकता है॥ ३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गृहीत्वा रक्षसा मुक्तो द्विजातिः कानने यथा॥ ४॥

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जिसके अनुसार कोई ब्राह्मण किसी जंगलमें किसी राक्षसके चंगुलमें फँसकर भी सामनीतिके द्वारा उससे मुक्त हो गया था॥ ४॥

कश्चिद् वाग्बुद्धिसम्पन्नो ब्राह्मणो विजने वने।
गृहीतः कृच्छ्रमापन्नो रक्षसा भक्षयिष्यता॥ ५॥

एक बुद्धिमान् एवं वाचाल ब्राह्मण किसी निर्जन वनमें घूम रहा था। उसी समय किसी राक्षसने आकर उसे खानेकी इच्छासे पकड़ लिया। बेचारा ब्राह्मण बड़े कष्टमें पड़ गया॥ ५॥

स बुद्धिश्रुतिसम्पन्नस्तं दृष्ट्वातीव भीषणम्।
सामैवास्मिन् प्रयुयुजे न मुमोह न विव्यथे॥ ६॥

ब्राह्मणकी बुद्धि तो अच्छी थी ही, वह शास्त्रोंका विद्वान् भी था। इसलिये उस अत्यन्त भयानक राक्षसको देखकर भी वह न तो घबराया और न व्यथित ही हुआ। बल्कि उसके प्रति उसने साम नीतिका ही प्रयोग किया॥ ६॥

रक्षस्तु वाचं सम्पूज्य प्रश्नं पप्रच्छ तं द्विजम्।
मोक्ष्यसे ब्रूहि मे प्रश्नं केनास्मि हरिणः कृशः॥ ७॥

राक्षसने ब्राह्मणके शान्तिमय वचनोंकी प्रशंसा करके उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया और कहा—'यदि मेरे प्रश्नका उत्तर दे दोगे तो तुम्हें छोड़ दूँगा! बताओ, मैं किस कारणसे अत्यन्त दुर्बल और सफेद (पाण्डु) हो गया हूँ'॥ ७॥

मुहूर्तमथ संचिन्त्य ब्राह्मणस्तस्य रक्षसः।
आभिर्गाथाभिरव्यग्रः प्रश्नं प्रतिजगाद ह॥ ८॥

यह सुनकर ब्राह्मणने दो घड़ीतक विचार करके शान्तभावसे निम्नांकित गाथाओं (वचनोंद्वारा) उस राक्षसके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया॥ ८॥

ब्राह्मण उवाच

विदेशस्थो विलोकस्थो विना नूनं सुहृज्जनैः।
विषयानतुलान् भुङ्क्षे तेनासि हरिणः कृशः॥ ९॥

ब्राह्मण बोला—राक्षस! निश्चय ही तुम सुहृद्‌जनोंसे अलग होकर परदेशमें दूसरे लोगोंके साथ रहते और अनुपम विषयोंका उपभोग करते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण तुम दुबले एवं सफेद होते जा रहे हो॥ ९॥

नूनं मित्राणि ते रक्षः साधूपचरितान्यपि।
स्वदोषादपरज्यन्ते तेनासि हरिणः कृशः॥ १०॥

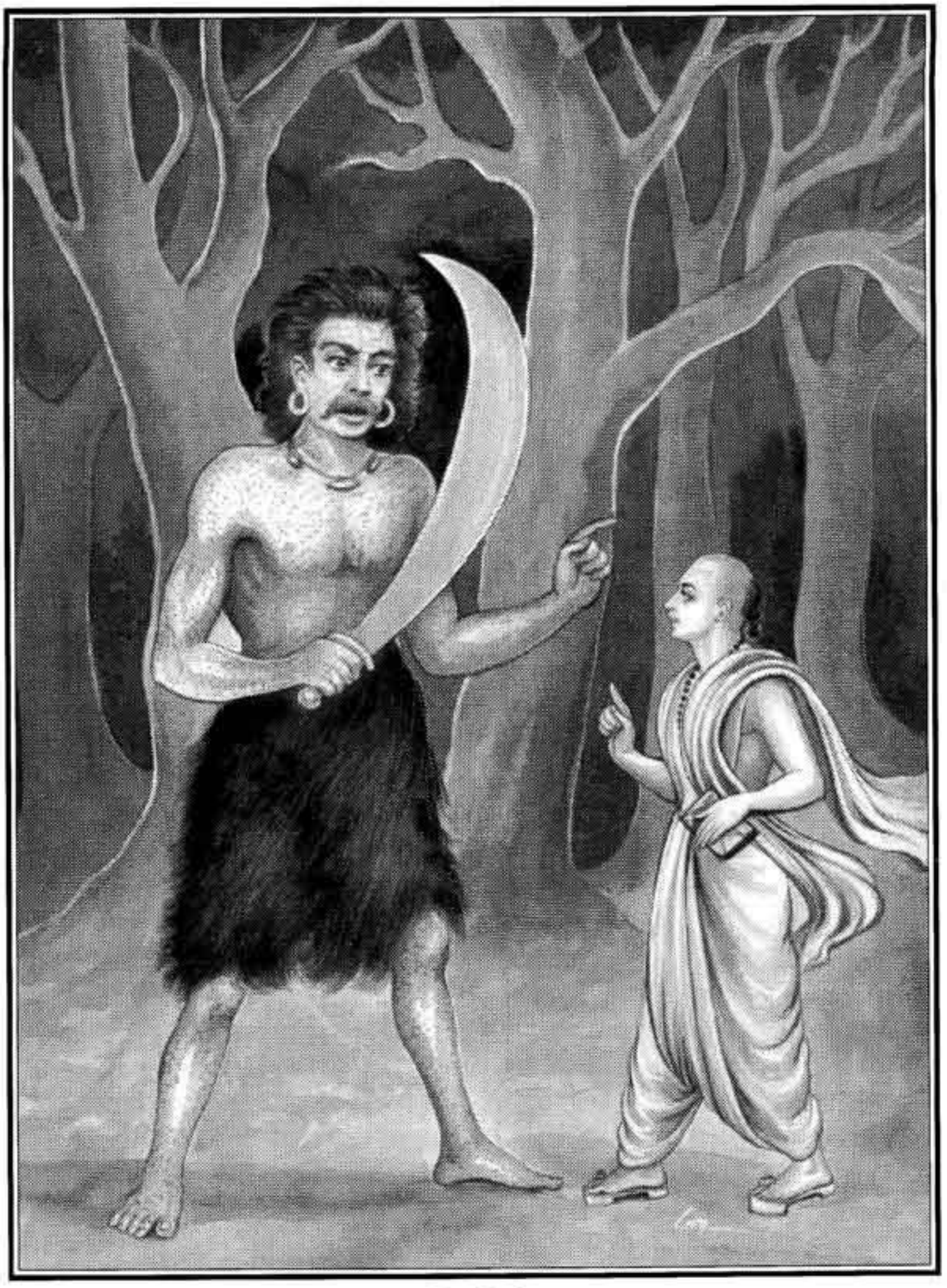

सामनीतिकी विजय

निशाचर! तुम्हारे मित्र तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सम्मानित होनेपर भी अपने स्वभावदोषके कारण तुमसे विमुख रहते हैं; इसीलिये तुम चिन्तावश दुबले होकर सफेद पड़ते जा रहे हो॥ १०॥

धनैश्वर्याधिकाः स्तब्धास्त्वद्गुणैः परमावराः।
अवजानन्ति नूनं त्वां तेनासि हरिणः कृशः॥ ११॥

जो गुणोंमें तुम्हारी अपेक्षा निम्नश्रेणीके हैं, वे जड मनुष्य भी धन और ऐश्वर्यमें अधिक होनेके कारण निश्चय ही सदा तुम्हारी अवहेलना किया करते हैं; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद (पीले) होते जा रहे हो॥ ११॥

गुणवान् विगुणानन्यान् नूनं पश्यसि सत्कृतान्।
प्राज्ञोऽप्राज्ञान् विनीतात्मा तेनासि हरिणः कृशः॥ १२॥

तुम गुणवान्, विद्वान् एवं विनीत होनेपर भी सम्मान नहीं पाते और गुणहीन तथा मूढ़ व्यक्तियोंको सम्मानित होते देखते हो; इसीलिये तुम्हारे शरीरका रंग फीका पड़ गया है और तुम दुर्बल हो गये हो॥ १२॥

अवृत्त्या क्लिश्यमानोऽपि वृत्त्युपायान् विगर्हयन्।
माहात्म्याद् व्यथसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ १३॥

जीवन-निर्वाहका कोई उपाय न होनेसे तुम क्लेश उठाते होगे, किंतु अपने गौरवके कारण जीविकाके प्रतिग्रह आदि उपायोंकी निन्दा करते हुए उन्हें स्वीकार नहीं करते होगे। यही तुम्हारी उदासी और दुर्बलताका कारण है॥ १३॥

सम्पीड्यात्मानमार्यत्वात् त्वया कश्चिदुपस्कृतः।
जितं त्वां मन्यते साधो तेनासि हरिणः कृशः॥ १४॥

साधो! तुम सज्जनताके कारण अपने शरीरको कष्ट देकर भी जब किसीका उपकार करते हो; तब वह तुम्हें अपनी शक्तिसे पराजित समझता है; इसीलिये तुम कृशकाय और सफेद होते जा रहे हो॥ १४॥

क्लिश्यमानान् विमार्गेषु कामक्रोधावृतात्मनः।
मन्ये त्वं ध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ १५॥

जिनका चित्त काम और क्रोधसे आक्रान्त है, अतएव जो कुमार्गपर चलकर कष्ट भोग रहे हैं। सम्भवतः ऐसे ही लोगोंके लिये तुम सदा चिन्तित रहते हो; इसीलिये दुर्बल होकर सफेद (पीले) पड़ते जा रहे हो॥ १५॥

प्रज्ञासम्भावितो नूनमप्रज्ञैरुपसंहितः।
हीयमानोऽसि दुर्वृत्तैस्तेनासि हरिणः कृशः॥ १६॥

यद्यपि तुम अपनी उत्तम बुद्धिके द्वारा सम्मानके योग्य हो तो भी अज्ञानी पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ाते हैं और दुराचारी मनुष्य तुम्हारा तिरस्कार करते हैं। इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर सूखकर पीला पड़ता जा रहा है॥ १६॥

नूनं मित्रमुखः शत्रुः कश्चिदार्यवदाचरन्।
वञ्चयित्वा गतस्त्वां वै तेनासि हरिणः कृशः॥ १७॥

निश्चय ही कोई शत्रु मुँहसे मित्रताकी बातें करता हुआ आया, श्रेष्ठ पुरुषके समान बर्ताव करने लगा और तुम्हें ठगकर चला गया; इसीलिये तुम दुर्बल और सफेद होते जा रहे हो॥ १७॥

प्रकाशार्थगतिर्नूनं रहस्यकुशलः कृती।
तज्ज्ञैर्न पूज्यसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ १८॥

तुम्हारी अर्थगति—कार्यपद्धति सबको विदित है, तुम रहस्यकी बातें समझानेमें कुशल और विद्वान् हो तो भी गुणज्ञ पुरुष तुम्हारा आदर नहीं करते हैं; इसीसे तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो॥ १८॥

असत्स्वपि निविष्टेषु ब्रुवतो मुक्तसंशयम्।
गुणास्ते न विराजन्ते तेनासि हरिणः कृशः॥ १९॥

तुम दुराग्रही दुष्ट पुरुषोंके बीचमें ही संशयरहित होकर उत्तम बात कहते हो, तो भी तुम्हारे गुण वहाँ प्रकाशित नहीं होते; इसीलिये तुम दुर्बल होते और फीके पड़ते जा रहे हो॥ १९॥

धनबुद्धिश्रुतैर्हीनः केवलं तेजसान्वितः।
महत् प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ २०॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम धन, बुद्धि और विद्यासे हीन होकर भी केवल शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होकर ऊँचा पद चाहते रहे हो और इसमें तुम्हें सफलता न मिली हो; इसीलिये तुम पाण्डुवर्णके हो गये हो और तुम्हारा शरीर भी सूखता जा रहा है॥ २०॥

तपःप्रणिहितात्मानं मन्ये त्वारण्यकाङ्क्षिणम्।
बान्धवा नाभिनन्दन्ति तेनासि हरिणः कृशः॥ २१॥

मुझे यह भी जान पड़ता है कि तुम्हारा मन तपस्यामें लगा है और इसलिये तुम जंगलमें रहना चाहते हो, परंतु तुम्हारे भाई-बन्धु इस बातको पसंद नहीं करते हैं; इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो गये हो॥ २१॥

(सुदुर्विनीतः पुत्रो वा जामाता वा प्रमार्जकः।
दारा वा प्रतिकूलास्ते तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुम्हारा पुत्र दुर्विनीत—उद्दण्ड हो, या दामाद घरकी सारी सम्पत्ति झाड़-पोंछकर ले जानेवाला हो या तुम्हारी पत्नी प्रतिकूल स्वभावकी हो; इसीसे तुम कृशकाय और पीले होते जा रहे हो॥

भ्रातरोऽतीव विषमाः पिता वा क्षुत्क्षतो मृतः।
माता ज्येष्ठो गुरुर्वापि तेनासि हरिणः कृशः॥

तुम्हारे भाई बड़े बेईमान हों अथवा तुम्हारे पिता, माता या ज्येष्ठ भाई एवं गुरुजन भूखसे दुर्बल होकर मर गये हों, इस बातकी भी सम्भावना है। शायद इसीसे तुम्हारे शरीरका रंग सफेद हो गया है और तुम सूखते चले जा रहे हो॥

ब्राह्मणो वा हतो गौर्वा ब्रह्मस्वं वा हृतं पुरा।
देवस्वं वाधिकं काले तेनासि हरिणः कृशः॥

अथवा यह भी अनुमान होता है कि पहले तुमने किसी ब्राह्मण या गौकी हत्या की हो, किसी ब्राह्मण या देवताका किसी समय अधिक-से-अधिक धन चुरा लिया हो, इसीलिये तुम कृशकाय और पीले हो रहे हो॥

हृतदारोऽथ वृद्धो वा लोके द्विष्टोऽथ वा नरैः।
अविज्ञानेन वा वृद्धस्तेनासि हरिणः कृशः॥

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्रीका किसीने अपहरण कर लिया हो। अथवा तुम बूढ़े हो चले हो या जगत्के मनुष्य तुमसे द्वेष करने लगे हों। अथवा अज्ञानके द्वारा ही तुम बढ़े-चढ़े हो और इसीलिये चिन्ताके कारण तुम्हारा शरीर सफेद तथा दुर्बल हो गया हो॥

वार्धक्यार्थं धनं दृष्ट्वा स्वां श्रीर्वापि परैर्हृता।
वृत्तिर्वा दुर्जनापेक्षा तेनासि हरिणः कृशः॥)

बुढ़ापेके लिये तुम्हारे पास धनका संग्रह देखकर दूसरोंने तुम्हारी उस निजी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया हो अथवा जीविकाके लिये दुष्ट पुरुषोंकी अपेक्षा रखनी पड़ती हो, इसकी भी सम्भावना जान पड़ती है। शायद इसी चिन्तासे तुम्हारा शरीर दुबला होता और पीला पड़ता जा रहा हो॥

इष्टभार्यस्य ते नूनं प्रातिवेश्यो महाधनः।
युवा सुललितः कामी तेनासि हरिणः कृशः॥ २२॥

यह भी सम्भव है कि तुम्हारी स्त्री परम सुन्दरी होनेके कारण तुम्हें बहुत प्रिय हो और तुम्हारे पड़ोसमें ही कोई बहुत सुन्दर, महाधनी और कामी नवयुवक निवास करता हो! इसी चिन्तासे तुम दुबले और पीले पड़ते जा रहे हो॥ २२॥

नूनमर्थवतां मध्ये तव वाक्यमनुत्तमम्।
न भाति कालेऽभिहितं तेनासि हरिणः कृशः॥ २३॥

निश्चय ही तुम धनवानोंके बीच परम उत्तम और समयोचित बात कहते होगे, किंतु वह उन्हें पसंद न आती होगी। इसीलिये तुम सफेद और दुर्बल हो रहे हो॥

दृढपूर्वं श्रुतं मूर्खं कुपितं हृदयप्रियम्।
अनुनेतुं न शक्नोषि तेनासि हरिणः कृशः॥ २४॥

तुम्हारा कोई पहलेका दृढ़ निश्चयवाला प्रिय व्यक्ति मूर्खताके कारण तुमपर कुपित हो गया होगा और तुम उसे किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त नहीं कर पाते होगे। इसीलिये तुम दुर्बल और फीके पड़ते जा रहे हो॥ २४॥

नूनमासंजयित्वा त्वां कृत्ये कस्मिंश्चिदीप्सिते।
कश्चिदर्थयते नित्यं तेनासि हरिणः कृशः॥ २५॥

निश्चय ही कोई मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार किसी अभीष्ट कार्यमें नियुक्त करके सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है; इसीलिये तुम श्वेत (पीत) वर्णके और दुबले हो रहे हो॥ २५॥

नूनं त्वां सुगुणैर्युक्तं पूजयानं सुहृद्ध्रुवम्।
ममार्थ इति जानीते तेनासि हरिणः कृशः॥ २६॥

अवश्य ही तुम सद्गुणोंसे युक्त होनेके कारण दूसरे लोगोंद्वारा पूजित होते हो; परंतु तुम्हारा मित्र समझता है कि यह मेरे ही प्रभावसे आदर पा रहा है। इसीलिये तुम चिन्तासे दुर्बल एवं पीले होते जा रहे हो॥ २६॥

अन्तर्गतमभिप्रायं नूनं नेच्छसि लज्जया।
विवेक्तुं प्राप्तिशैथिल्यात् तेनासि हरिणः कृशः॥ २७॥

निश्चय ही तुम लज्जावश किसीपर अपना आन्तरिक अभिप्राय नहीं प्रकट करना चाहते, क्योंकि तुम्हें अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके विषयमें संदेह है, इसीलिये चिन्तावश सूखते और पीले पड़ते जा रहे हो॥ २७॥

नानाबुद्धिरुचो लोके मनुष्यान् नूनमिच्छसि।
ग्रहीतुं स्वगुणैः सर्वांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ २८॥

निश्चय ही संसारमें नाना प्रकारकी बुद्धि और भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले लोग रहते हैं। उन सबको तुम अपने गुणोंसे वशमें करना चाहते हो। इसीलिये क्षीणकाय और पाण्डुवर्णके हो रहे हो॥ २८॥

अविद्वान् भीरुरल्पार्थे विद्याविक्रमदानजम्।
यशः प्रार्थयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ २९॥

अथवा यह भी हो सकता है कि तुम विद्वान् न होकर भी विद्यासे मिलनेवाले यशको पाना चाहते हो। डरपोक और कायर होनेपर भी पराक्रमजनित कीर्ति पानेकी अभिलाषा रखते हो और अपने पास बहुत थोड़ा धन होनेपर भी दानवीर होनेका यश

पानेके लिये उत्सुक हो। इसीलिये कृशकाय और पीले हो रहे हो॥ २९॥

चिराभिलषितं किंचित्फलमप्राप्तमेव ते।
कृतमन्यैरपहृतं तेनासि हरिणः कृशः॥ ३०॥

तुमने कोई कार्य किया, जिसका चिरकालसे अभिलषित कोई फल तुम्हें प्राप्त होनेवाला था, किंतु तुम्हें तो वह प्राप्त हुआ नहीं और दूसरे लोग उसे हर ले गये। इसीलिये तुम्हारे शरीरकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और दिनोंदिन दुबले होते जा रहे हो॥ ३०॥

नूनमात्मकृतं दोषमपश्यन् किंचिदात्मनः।
अकारणेऽभिशप्तोऽसि तेनासि हरिणः कृशः॥ ३१॥

एक बात यह भी ध्यानमें आती है कि तुम्हें तो अपना कोई दोष दिखायी नहीं देता तथापि दूसरे लोग अकारण ही तुम्हें कोसते रहते हैं। शायद इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल होते जा रहे हो॥ ३१॥

साधून् गृहस्थान् दृष्ट्वा च तथा साधून् वनेचरान्।
मुक्तांश्चावसथे सक्तांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ ३२॥

तुम विरक्त साधुओंको गृहस्थ, दुर्जनोंको वनवासी तथा संन्यासियोंको मठ-मन्दिरमें आसक्त देखते हो; इसीलिये सफेद और दुर्बल होते जा रहे हो॥ ३२॥

सुहृदां दुःखमार्तानां न प्रमोक्ष्यसि चार्तिजम्।
अलमर्थगुणैर्हीनं तेनासि हरिणः कृशः॥ ३३॥

तुम्हारे स्नेही बन्धु-बान्धव रोग आदिसे पीड़ित होकर महान् दुःख भोगते हैं और तुम उन्हें उस पीड़ाजनित कष्टसे मुक्त नहीं कर पाते हो तथा अपने आपको भी तुम अर्थ-लाभसे हीन पाते हो; शायद इसीलिये तुम सफेद और दुबले-पतले हो गये हो॥ ३३॥

धर्म्यमर्थ्यं च काम्यं च काले चाभिहितं वचः।
न प्रतीयन्ति ते नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ ३४॥

तुम्हारी बातें धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल एवं सामयिक होती हैं, तो भी दूसरे लोग उनपर ठीक विश्वास नहीं करते हैं। इसलिये तुम कान्तिहीन एवं कृशकाय हो रहे हो॥ ३४॥

दत्तानकुशलैरर्थान् मनीषी संजिजीविषुः।
प्राप्य वर्तयसे नूनं तेनासि हरिणः कृशः॥ ३५॥

मनीषी होनेपर भी तुम जीवन-निर्वाहकी इच्छासे ही अज्ञानी पुरुषोंके दिये हुए धनको लेकर उसीपर गुजारा करते हो; इसीलिये तुम कान्तिहीन और दुर्बल हो॥ ३५॥

पापान् प्रवर्धतो दृष्ट्वा कल्याणानावसीदतः।
ध्रुवं गर्हयसे नित्यं तेनासि हरिणः कृशः॥ ३६॥

पापियोंको आगे बढ़ते और कल्याणकारी कर्मोंमें लगे हुए पुण्यात्मा पुरुषोंको दुःख उठाते देखकर अवश्य ही तुम सदा इस परिस्थितिकी निन्दा करते हो; इसीलिये दुर्बल और पाण्डुवर्णके हो गये हो॥ ३६॥

परस्परविरुद्धानां प्रियं नूनं चिकीर्षसि।
सुहृदामुपरोधेन तेनासि हरिणः कृशः॥ ३७॥

एक दूसरेसे विरोध रखनेवाले अपने सुहृदोंको रोककर तुम निश्चय ही उनका प्रिय करना चाहते हो; इसीलिये चिन्ताके कारण श्रीहीन और दुर्बल हो गये हो॥ ३७॥

श्रोत्रियांश्च विकर्मस्थान् प्राज्ञांश्चाप्यजितेन्द्रियान्।
मन्येऽनुध्यायसि जनांस्तेनासि हरिणः कृशः॥ ३८॥

वेदज्ञ ब्राह्मणोंको वेदविरुद्ध कर्ममें तत्पर और विद्वानोंको इन्द्रियोंके अधीन देखकर मेरी समझमें तुम निरन्तर चिन्तित रहते हो। सम्भवतः इसीलिये तुम्हारा शरीर सफेद (पीला) पड़ गया है और तुम दुर्बल हो गये हो॥ ३८॥

एवं सम्पूजितं रक्षो विप्रं तं प्रत्यपूजयत्।
सखायमकरोच्चैनं संयोज्यार्थैर्मुमोच ह॥ ३९॥

ऐसा कहकर जब उस ब्राह्मणने राक्षसका समादर किया, तब राक्षसने भी ब्राह्मणका विशेष सत्कार किया। उसने ब्राह्मणको अपना मित्र बना लिया और उसे धन देकर छोड़ दिया॥ ३९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि हरिणकृशकाख्याने चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दुर्बल और पाण्डुवर्णके राक्षसका आख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २८½ श्लोक मिलाकर कुल ६७½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्राद्धके विषयमें देवदूत और पितरोंका, पापोंसे छूटनेके विषयमें महर्षि विद्युत्प्रभ और इन्द्रका, धर्मके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका तथा वृषोत्सर्ग आदिके विषयमें देवताओं, ऋषियों और पितरोंका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

जन्म मानुष्यकं प्राप्य कर्मक्षेत्रं सुदुर्लभम्।
श्रेयोऽर्थिना दरिद्रेण किं कर्तव्यं पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! मनुष्यकुलमें जन्म और परम दुर्लभ कर्मक्षेत्र पाकर अपना कल्याण चाहनेवाले दरिद्र पुरुषको क्या करना चाहिये?॥ १॥

दानानामुत्तमं यच्च देयं यच्च यथा यथा।
मान्यान् पूज्यांश्च गाङ्गेय रहस्यं वक्तुमर्हसि॥ २॥

गंगानन्दन! सब दानोंमें जो उत्तम दान है, जिस वस्तुका जिस-जिस प्रकारसे दान करना उचित है तथा जो माननीय और पूजनीय हैं—इन सब रहस्यमय (गोपनीय) विषयोंका वर्णन कीजिये॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्टो नरेन्द्रेण पाण्डवेन यशस्विना।
धर्माणां परमं गुह्यं भीष्मः प्रोवाच पार्थिवम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यशस्वी पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भीष्मजीने उनसे धर्मका परम गुह्य रहस्य बताना आरम्भ किया॥ ३॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् धर्मगुह्यानि भारत।
यथा हि भगवान् व्यासः पुरा कथितवान् मयि॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! भरतनन्दन! पूर्वकालमें भगवान् वेदव्यासने मुझे धर्मके जो गूढ़ रहस्य बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ ४॥

देवगुह्यमिदं राजन् यमेनाक्लिष्टकर्मणा।
नियमस्थेन युक्तेन तपसो महतः फलम्॥ ५॥

राजन्! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले यमने नियमपरायण और योगयुक्त होकर महान् तपके फलस्वरूप इस देवगुह्य रहस्यको प्राप्त किया था॥ ५॥

येन यः प्रीयते देवः प्रीयन्ते पितरस्तथा।
ऋषयः प्रमथाः श्रीश्च चित्रगुप्तो दिशां गजाः॥ ६॥

जिससे देवता, पितर, ऋषि, प्रमथगण, लक्ष्मी, चित्रगुप्त और दिग्गज प्रसन्न होते हैं॥ ६॥

ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः।
महादानफलं चैव सर्वयज्ञफलं तथा॥ ७॥

जिसमें महान् फल देनेवाले ऋषिधर्मका रहस्यसहित समावेश हुआ है तथा जिसके अनुष्ठानसे बड़े-बड़े दानों और सम्पूर्ण यज्ञोंका फल मिलता है॥ ७॥

यश्चैतदेवं जानीयाज्ज्ञात्वा वा कुरुतेऽनघ।
सदोषोऽदोषवांश्चेह तैर्गुणैः सह युज्यते॥ ८॥

निष्पाप नरेश! जो उस धर्मको इस प्रकार जानता और जानकर इसके अनुसार आचरण करता है, वह सदोष (पापी) रहा हो भी तो उस दोषसे मुक्त होकर उन सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है॥ ८॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः॥ ९॥

दस कसाइयोंके समान एक तेली, दस तेलियोंके समान एक कलवार, दस कलवारोंके समान एक वेश्या और दस वेश्याओंके समान एक राजा है॥ ९॥

अर्धेनैतानि सर्वाणि नृपतिः कथ्यतेऽधिकः।
त्रिवर्गसहितं शास्त्रं पवित्रं पुण्यलक्षणम्॥ १०॥

राजा इन सबकी अपेक्षा अधिक दोषयुक्त बताया जाता है, इसलिये ये सब पाप राजाके आधेसे भी कम हैं। (अतः राजाका दान लेना निषिद्ध है।) धर्म, अर्थ और कामका प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र है, वह पवित्र एवं पुण्यका परिचय करानेवाला है॥ १०॥

धर्मव्याकरणं पुण्यं रहस्यश्रवणं महत्।
श्रोतव्यं धर्मसंयुक्तं विहितं त्रिदशैः स्वयम्॥ ११॥

उसमें धर्म और उसके रहस्योंकी व्याख्या है वह परम पवित्र, महान् रहस्यमय तत्त्वका श्रवण करानेवाला, धर्मयुक्त और साक्षात् देवताओंद्वारा निर्मित है। उसका श्रवण करना चाहिये॥ ११॥

पितॄणां यत्र गुह्यानि प्रोच्यन्ते श्राद्धकर्मणि।
देवतानां च सर्वेषां रहस्यं कथ्यतेऽखिलम्॥ १२॥
ऋषिधर्मः स्मृतो यत्र सरहस्यो महाफलः।
महायज्ञफलं चैव सर्वदानफलं तथा॥ १३॥

जिसमें पितरोंके श्राद्धके विषयमें गूढ़ बातें बतायी गयी हैं, जहाँ सम्पूर्ण देवताओंके रहस्यका पूरा-पूरा वर्णन

है तथा जिसमें रहस्यसहित महान् फलदायी ऋषि-धर्मका एवं बड़े-बड़े यज्ञों और सम्पूर्ण दानोंके फलका प्रतिपादन किया गया है॥ १२-१३॥

ये पठन्ति सदा मर्त्या येषां चैवोपतिष्ठति।
श्रुत्वा च फलमाचष्टे स्वयं नारायणः प्रभुः॥ १४॥

जो मनुष्य उस शास्त्रको सदा पढ़ते हैं, जिन्हें उसका तत्त्व हृदयंगम हो जाता है तथा जो उसका फल सुनकर दूसरोंके सामने व्याख्या करते हैं, वे साक्षात् भगवान् नारायणस्वरूप हो जाते हैं॥ १४॥

गवां फलं तीर्थफलं यज्ञानां चैव यत् फलम्।
एतत् फलमवाप्नोति यो नरोऽतिथिपूजकः॥ १५॥

जो मानव अतिथियोंकी पूजा करता है, वह गोदान, तीर्थस्थान और यज्ञानुष्ठानका फल पा लेता है॥ १५॥

श्रोतारः श्रद्दधानाश्च येषां शुद्धं च मानसम्।
तेषां व्यक्तं जिता लोकाः श्रद्दधानेन साधुना॥ १६॥

जो श्रद्धापूर्वक धर्मशास्त्रका श्रवण करते हैं तथा जिनका हृदय शुद्ध हो गया है, वे श्रद्धालु एवं श्रेष्ठ मनके द्वारा अवश्य ही पुण्यलोकपर विजय प्राप्त कर लेते हैं॥ १६॥

मुच्यते किल्बिषाच्चैव न स पापेन लिप्यते।
धर्मं च लभते नित्यं प्रेत्य लोकगतो नरः॥ १७॥

शुद्धचित्त पुरुष श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करनेसे पूर्व पापसे मुक्त हो जाता है तथा वह भविष्यमें भी पापसे लिप्त नहीं होता है। नित्य-प्रति धर्मका अनुष्ठान करता है और मरनेके बाद उसे उत्तम लोककी प्राप्ति होती है॥ १७॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य देवदूतो यदृच्छया।
स्थितो ह्यन्तर्हितो भूत्वा पर्यभाषत वासवम्॥ १८॥

एक समयकी बात है, एक देवदूतने अकस्मात् पहुँचकर आकाशमें स्थित हो इन्द्रसे कहा—॥ १८॥

यौ तौ कामगुणोपेतावश्विनौ भिषजां वरौ।
आज्ञयाहं तयोः प्राप्तः सनरान् पितृदैवतान्॥ १९॥

'वे जो कमनीय गुणोंसे सम्पन्न वैद्यप्रवर अश्विनीकुमार हैं, उन दोनोंकी आज्ञासे मैं यहाँ देवताओं, पितरों और मनुष्योंके पास आया हूँ॥ १९॥

कस्माद्धि मैथुनं श्राद्धे दातुर्भोक्तुश्च वर्जितम्।
किमर्थं च त्रयः पिण्डाः प्रविभक्ताः पृथक् पृथक्॥ २०॥

'मेरे मनमें यह जिज्ञासा हुई है कि श्राद्धके दिन श्राद्ध-कर्ता और श्राद्धान्न भोजन करनेवाले ब्राह्मणके लिये जो मैथुनका निषेध किया गया है, उसका क्या

कारण है? तथा श्राद्धमें पृथक्-पृथक् तीन पिण्ड किसलिये दिये जाते हैं?॥ २०॥

प्रथमः कस्य दातव्यो मध्यमः क्व च गच्छति।
उत्तरश्च स्मृतः कस्य एतदिच्छामि वेदितुम्॥ २१॥

'प्रथम पिण्ड किसे देना चाहिये? दूसरा पिण्ड किसे प्राप्त होता तथा तीसरे पिण्डपर किसका अधिकार माना गया है? यह सब कुछ मैं जानना चाहता हूँ'॥

श्रद्दधानेन दूतेन भाषितं धर्मसंहितम्।
पूर्वस्थास्त्रिदशाः सर्वे पितरः पूज्य खेचरम्॥ २२॥

उस श्रद्धालु देवदूतके इस प्रकार धर्मयुक्त भाषण करनेपर पूर्वदिशामें स्थित हुए सभी देवताओं और पितरोंने उस आकाशचारी पुरुषकी प्रशंसा करते हुए कहा॥ २२॥

पितर ऊचुः

स्वागतं तेऽस्तु भद्रं ते श्रूयतां खेचरोत्तम।
गूढार्थः परमः प्रश्नो भवता समुदीरितः॥ २३॥

पितर बोले—आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत! तुम्हारा स्वागत है। तुम कल्याणके भागी होओ। तुमने गूढ़ अभिप्रायसे युक्त बहुत उत्तम प्रश्न उपस्थित किया है। इसका उत्तर सुनो॥ २३॥

श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत्।
पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते॥ २४॥

जो पुरुष श्राद्धका दान और भोजन करके स्त्रीके साथ समागम करता है, उसके पितर उस महीनेभर

उसी वीर्यमें शयन करते हैं॥ २४॥

प्रविभागं तु पिण्डानां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
पिण्डो ह्यधस्ताद् गच्छंस्तु अप आविश्य भावयेत्॥ २५॥
पिण्डं तु मध्यमं तत्र पत्नी त्वेका समश्नुते।
पिण्डस्तृतीयो यस्तेषां तं दद्याज्जातवेदसि॥ २६॥

अब मैं पिण्डोंका क्रमशः विभाग बताऊँगा। श्राद्धमें जो तीन पिण्डोंका विधान है, उनमें पहला पिण्ड जलमें डाल देना चाहिये। मध्यम पिण्ड केवल श्राद्धकर्ताकी पत्नीको भोजन करना चाहिये और उनमें जो तीसरा पिण्ड है, उसे आगमें डाल देना चाहिये॥ २५-२६॥

एष श्राद्धविधिः प्रोक्तो यथा धर्मो न लुप्यते।
पितरस्तस्य तुष्यन्ति प्रहृष्टमनसः सदा॥ २७॥
प्रजा विवर्धते चास्य अक्षयं चोपतिष्ठति।

यही श्राद्धकी विधि बतायी गयी है, जिसके अनुसार चलनेपर धर्मका लोप नहीं होता। जो इस धर्मका पालन करता है, उसके पितर सदा प्रसन्नचित्त एवं संतुष्ट रहते हैं। उसकी संतति बढ़ती है और कभी क्षीण नहीं होती॥ २७½॥

देवदूत उवाच

आनुपूर्व्येण पिण्डानां प्रविभागः पृथक् पृथक्॥ २८॥
पितॄणां त्रिषु सर्वेषां निरुक्तं कथितं त्वया।

देवदूतने पूछा—पितृगण! आपलोगोंने क्रमशः पिण्डोंका विभाग बतलाया और तीनों लोकोंमें जो समस्त पितर हैं, उनको पिण्डदान करनेका शास्त्रोक्त प्रकार भी बतला दिया॥ २८½॥

एकः समुद्धृतः पिण्डो ह्यधस्तात् कस्य गच्छति॥ २९॥
कं वा प्रीणयते देवं कथं तारयते पितॄन्।

किंतु पहले पिण्डको उठाकर जो नीचे जलमें डाल देनेकी बात कही गयी है, उसके अनुसार यदि वह जलमें डाला जाय तो वह किसको प्राप्त होता है? किस देवताको तृप्त करता है? और किस प्रकार पितरोंको तारता है?॥ २९½॥

मध्यमं तु तदा पत्नी भुङ्क्तेऽनुज्ञातमेव हि॥ ३०॥
किमर्थं पितरस्तस्य कव्यमेव च भुञ्जते।

इसी प्रकार यदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार मध्यम पिण्ड पत्नी ही खाती है तो उसके पितर किस प्रकार उस पिण्डका उपभोग करते हैं?॥ ३०½॥

अत्र यस्त्वन्तिमः पिण्डो गच्छते जातवेदसम्॥ ३१॥
भवते का गतिस्तस्य कं वा समनुगच्छति।

तथा अन्तिम पिण्ड जब अग्निमें डाल दिया जाता है, तब उसकी क्या गति होती है? वह किस देवताको प्राप्त होता है?॥ ३१½॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पिण्डेषु त्रिषु या गतिः॥ ३२॥
फलं वृत्तिं च मार्गं च यश्चैनं प्रतिपद्यते।

यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका जो फल, वृत्ति और मार्ग है तथा जो देवता उस पिण्डको पाता है, उन सबपर प्रकाश डालिये॥ ३२½॥

पितर ऊचुः

सुमहानेष प्रश्नो वै यस्त्वया समुदीरितः॥ ३३॥
रहस्यमद्भुतं चापि पृष्टाः स्म गगनेचर।
एतदेव प्रशंसन्ति देवाश्च मुनयस्तथा॥ ३४॥

पितरोंने कहा—आकाशचारी देवदूत! तुमने यह महान् प्रश्न उपस्थित किया है और हमलोगोंसे अद्भुत रहस्यकी बात पूछी है। देवता और मुनि भी इस पितृकर्मकी प्रशंसा करते हैं॥ ३३-३४॥

तेऽप्येवं नाभिजानन्ति पितृकार्यविनिश्चयम्।
वर्जयित्वा महात्मानं चिरजीविनमुत्तमम्॥ ३५॥
पितृभक्तस्तु यो विप्रो वरलब्धो महायशाः।

परन्तु वे भी इस प्रकार पितृकार्यके रहस्यको निश्चित रूपसे नहीं जानते हैं। जो पिताके भक्त हैं और जिन महायशस्वी ब्राह्मणको वर प्राप्त हुआ है, उन सर्वश्रेष्ठ चिरजीवी महात्मा मार्कण्डेयको छोड़कर और किसीको उसका पता नहीं है॥ ३५½॥

त्रयाणामपि पिण्डानां श्रुत्वा भगवतो गतिम्॥ ३६॥
देवदूतेन यः पृष्टः श्राद्धस्य विधिनिश्चयः।
गतिं त्रयाणां पिण्डानां शृणुष्वावहितो मम॥ ३७॥

उन्होंने भगवान् विष्णुसे तीनों पिण्डोंकी गति सुनकर श्राद्धका रहस्य जान लिया है। देवदूत! तुमने जो श्राद्धविधिका निर्णय पूछा है, उसके अनुसार तीनों पिण्डोंकी गति बतायी जा रही है। सावधान होकर मुझसे सुनो॥ ३६-३७॥

अपो गच्छति यो ह्यत्र शशिनं ह्येष प्रीणयेत्।
शशी प्रीणयते देवान् पितॄंश्चैव महामते॥ ३८॥

महामते! इस श्राद्धमें जो पहला पिण्ड पानीके भीतर चला जाता है, वह चन्द्रमाको तृप्त करता है और चन्द्रमा स्वयं देवता तथा पितरोंको तृप्त करते हैं॥

भुङ्क्ते तु पत्नी यं चैषामनुज्ञाता तु मध्यमम्।
पुत्रकामाय पुत्रं तु प्रयच्छन्ति पितामहाः॥ ३९॥

इसी प्रकार श्राद्धकर्ताकी पत्नी गुरुजनोंकी आज्ञासे

जो मध्यम पिण्डका भक्षण करती है, उससे प्रसन्न हुए पितामह पुत्रकी कामनावाले पुरुषको पुत्र प्रदान करते हैं॥ ३९॥

हव्यवाहे तु यः पिण्डो दीयते तन्निबोध मे।
पितरस्तेन तृप्यन्ति प्रीताः कामान् दिशन्ति च॥ ४०॥

अग्निमें जो पिण्ड डाला जाता है, उसके विषयमें भी मुझसे समझ लो। उससे पितर तृप्त होते हैं और तृप्त होकर वे मनुष्यकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं॥ ४०॥

एतत् ते कथितं सर्वं त्रिषु पिण्डेषु या गतिः।
ऋत्विग्यो यजमानस्य पितृत्वमनुगच्छति॥ ४१॥
तस्मिन्नहनि मन्यन्ते परिहार्यं हि मैथुनम्।
शुचिना तु सदा श्राद्धं भोक्तव्यं खेचरोत्तम॥ ४२॥

इस प्रकार तुम्हें यह सब कुछ बताया गया। तीनों पिण्डोंकी जो गति होती है, उसका भी प्रतिपादन किया गया। श्राद्धमें भोजनके लिये निमन्त्रित हुआ ब्राह्मण उस दिनके लिये यजमानके पितृभावको प्राप्त हो जाता है; अतः उस दिन उसके लिये मैथुनको त्याज्य मानते हैं। आकाशचारियोंमें श्रेष्ठ देवदूत! ब्राह्मणको स्नान आदिसे पवित्र होकर सदा श्राद्धमें भोजन करना चाहिये॥ ४१-४२॥

ये मया कथिता दोषास्ते तथा स्युर्न चान्यथा।
तस्मात् स्नातः शुचिः क्षान्तः श्राद्धं भुञ्जीत वै द्विजः॥ ४३॥

मैंने जो दोष बताये हैं, वे वैसे ही प्राप्त होते हैं। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; अतः ब्राह्मण स्नान करके पवित्र एवं क्षमाशील हो श्राद्धमें भोजन करे॥

प्रजा विवर्धते चास्य यश्चैवं सम्प्रयच्छति।
ततो विद्युत्प्रभो नाम ऋषिराह महातपाः॥ ४४॥

जो इस प्रकार श्राद्धका दान देता है, उसकी संतति बढ़ती है। पितरोंके इस प्रकार कहनेके बाद विद्युत्प्रभ नामवाले एक महातपस्वी महर्षिने अपना प्रश्न उपस्थित किया॥ ४४॥

आदित्यतेजसा तस्य तुल्यं रूपं प्रकाशते।
स च धर्मरहस्यानि श्रुत्वा शक्रमथाब्रवीत्॥ ४५॥

उनका रूप सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने धर्मके रहस्योंको सुनकर इन्द्रसे पूछा—॥

तिर्यग्योनिगतान् सत्त्वान् मर्त्या हिंसन्ति मोहिताः।
कीटान् पिपीलिकान् सर्पान् मेषान् समृगपक्षिणः॥ ४६॥
किल्बिषं सुबहु प्राप्ताः किंस्विदेषां प्रतिक्रिया।

'देवराज! मनुष्य मोहवश जो तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियों, मृग, पक्षी और भेड़ आदिको तथा कीड़ों, चींटे-चींटियों एवं सर्पोंकी हिंसा करते हैं, इससे वे बहुत-सा पाप बटोर लेते हैं। उनके लिये इन पापोंसे छूटनेका क्या उपाय है?'॥ ४६½॥

ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः॥ ४७॥
पितरश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म तं मुनिम्।

उनका यह प्रश्न सुनकर सम्पूर्ण देवता, तपोधन ऋषि तथा महाभाग पितर विद्युत्प्रभ मुनिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ ४७½॥

शक्र उवाच

कुरुक्षेत्रं गयां गङ्गां प्रभासं पुष्कराणि च॥ ४८॥
एतानि मनसा ध्यात्वा अवगाहेत् ततो जलम्।
तथा मुच्यति पापेन राहुणा चन्द्रमा यथा॥ ४९॥

इन्द्र बोले—मुने! मनुष्यको चाहिये कि कुरुक्षेत्र, गया, गंगा, प्रभास और पुष्करक्षेत्रका मन-ही-मन चिन्तन करके जलमें स्नान करे। ऐसा करनेसे वह पापसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे॥

त्र्यहं स्नातः स भवति निराहारश्च वर्तते।
स्पृशते यो गवां पृष्ठं बालधिं च नमस्यति॥ ५०॥

जो मनुष्य गायकी पीठ छूता और उसकी पूँछको नमस्कार करता है, वह मानो उपर्युक्त तीर्थोंमें तीन दिनतक उपवासपूर्वक रहकर स्नान कर लेता है॥

ततो विद्युत्प्रभो वाक्यमभ्यभाषत वासवम्।
अयं सूक्ष्मतरो धर्मस्तं निबोध शतक्रतो॥ ५१॥

तदनन्तर विद्युत्प्रभने इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! यह सूक्ष्मतर धर्म मैं बता रहा हूँ। इसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥

घृष्टो वटकषायेण अनुलिप्तः प्रियंगुणा।
क्षीरेण षष्टिकान् भुक्त्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५२॥

'बरगदकी जटासे अपने शरीरको रगड़े, राईका उबटन लगाये और दूधके साथ साठीके चावलोंकी खीर बनाकर भोजन करे तो मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यमृषिचिन्तितम्।
श्रुतं मे भाषमाणस्य स्थाणोः स्थाने बृहस्पतेः॥ ५३॥
रुद्रेण सह देवेश तन्निबोध शचीपते।

'एक दूसरा गूढ़ रहस्य, जिसका ऋषियोंने चिन्तन किया है, सुनिये। इसे मैंने भगवान् शंकरके स्थानमें भाषण करते हुए बृहस्पतिजीके मुखसे भगवान् रुद्रके साथ ही सुना था। देवेश! शचीपते! उसे ध्यानपूर्वक सुनिये॥

पर्वतारोहणं कृत्वा एकपादो विभावसुम्॥ ५४॥
निरीक्षेत निराहार ऊर्ध्वबाहुः कृताञ्जलिः।
तपसा महता युक्त उपवासफलं लभेत्॥ ५५॥

'जो पर्वतपर चढ़कर भोजनसे पूर्व एक पैरसे खड़ा हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये हाथ जोड़े वहाँ अग्निदेवकी ओर देखता है, वह महान् तपस्यासे युक्त होकर उपवास करनेका फल पाता है॥ ५४-५५॥

रश्मिभिस्तापितोऽर्कस्य सर्वपापमपोहति।
ग्रीष्मकालेऽथ वा शीते एवं पापमपोहति॥ ५६॥
ततः पापात् प्रमुक्तस्य द्युतिर्भवति शाश्वती।
तेजसा सूर्यवद् दीप्तो भ्राजते सोमवत् पुनः॥ ५७॥

'जो ग्रीष्म अथवा शीतकालमें सूर्यकी किरणोंसे तापित होता है, वह अपने सारे पापोंको नाश कर देता है। इस प्रकार मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। पापसे मुक्त हुए पुरुषको सनातन कान्ति प्राप्त होती है। वह अपने तेजसे सूर्यके समान देदीप्यमान और चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है'॥ ५६-५७॥

मध्ये त्रिदशवर्गस्य देवराजः शतक्रतुः।
उवाच मधुरं वाक्यं बृहस्पतिमनुत्तमम्॥ ५८॥

तत्पश्चात् देवराज शतक्रतु इन्द्रने देवमण्डलीके बीचमें अपने सर्वश्रेष्ठ गुरु बृहस्पतिजीसे मधुर वाणीमें कहा—॥

धर्मगुह्यं तु भगवन् मानुषाणां सुखावहम्।
सरहस्याश्च ये दोषास्तान् यथावदुदीरय॥ ५९॥

'भगवन्! मनुष्योंको सुख देनेवाले धर्मके गूढ़-स्वरूपका तथा रहस्योंसहित जो दोष हैं, उनका भी यथावत्रूपसे वर्णन कीजिये'॥ ५९॥

बृहस्पतिरुवाच

प्रतिमेहन्ति ये सूर्यमनिलं द्विषते च ये।
हव्यवाहे प्रदीप्ते च समिधं ये न जुह्वति॥ ६०॥
बालवत्सां च ये धेनुं दुहन्ति क्षीरकारणात्।
तेषां दोषान् प्रवक्ष्यामि तान् निबोध शचीपते॥ ६१॥

बृहस्पतिजीने कहा—शचीपते! जो सूर्यकी ओर मुँह करके मूत्र त्याग करते हैं, वायुदेवसे द्वेष रखते हैं अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्र त्याग करते हैं, जो प्रज्वलित अग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते तथा जो दूधके लोभसे बहुत छोटे बछड़ेवाली धेनुको भी दुह लेते हैं, उन सबके दोषोंका वर्णन करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो॥

भानुमाननिलश्चैव हव्यवाहश्च वासव।
लोकानां मातरश्चैव गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा॥ ६२॥

वासव! साक्षात् ब्रह्माजीने सूर्य, वायु, अग्नि तथा लोकमाता गौओंकी सृष्टि की है॥ ६२॥

लोकांस्तारयितुं शक्ता मर्त्येष्वेतेषु देवताः।
सर्वे भवन्तः शृण्वन्तु एकैकं धर्मनिश्चयम्॥ ६३॥

ये मर्त्यलोकके देवता हैं तथा सम्पूर्ण जगत्का उद्धार करनेकी शक्ति रखते हैं। आप सब लोग सुनें, मैं एक-एक धर्मका निश्चय बता रहा हूँ॥ ६३॥

वर्षाणि षडशीतिं तु दुर्वृत्ताः कुलपांसनाः।
स्त्रियः सर्वाश्च दुर्वृत्ताः प्रतिमेहन्ति या रविम्॥ ६४॥
अनिलद्वेषिणः शक्र गर्भस्था च्यवते प्रजा।

इन्द्र! जो दुराचारी और कुलांगार पुरुष तथा जो समस्त दुराचारिणी स्त्रियाँ सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब करती हैं और जो लोग वायुसे द्वेष रखते अर्थात् वायुके सम्मुख मूत्रत्याग करते हैं उन सबकी छियासी वर्षोंतक गर्भमें आयी हुई संतान गिर जाती है॥ ६४½॥

हव्यवाहस्य दीप्तस्य समिधं ये न जुह्वति॥ ६५॥
अग्निकार्येषु वै तेषां हव्यं नाश्नाति पावकः।

जो प्रज्वलित यज्ञाग्निमें समिधाकी आहुति नहीं देते, उनके अग्निहोत्रमें अग्निदेव हविष्य ग्रहण नहीं करते हैं (अतः अग्नि प्रज्वलित किये बिना उसे आहुति नहीं देनी चाहिये)॥ ६५½॥

क्षीरं तु बालवत्सानां ये पिबन्तीह मानवाः॥ ६६॥
न तेषां क्षीरपाः केचिज्जायन्ते कुलवर्धनाः।
प्रजाक्षयेण युज्यन्ते कुलवंशक्षयेण च॥ ६७॥

जो मानव छोटे बछड़ेवाली गौओंके दूध दुहकर पी जाते हैं, उनके वंशमें दूध पीनेवाले और कुलकी वृद्धि करनेवाले कोई बालक नहीं उत्पन्न होते हैं। उनकी संतान नष्ट हो जाती है तथा उनके कुल एवं वंशका क्षय हो जाता है॥ ६६-६७॥

एवमेतत् पुरा दृष्टं कुलवृद्धैर्द्विजातिभिः।
तस्माद् वर्ज्यानि वर्ज्यानि कार्यं कार्यं च नित्यशः॥ ६८॥
भूतिकामेन मर्त्येन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।

इस प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंने पूर्वकालमें यह प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया है; अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको शास्त्रमें जिन्हें त्याज्य बतलाया है, उन कर्मोंको त्याग देना चाहिये और जो कर्तव्य कर्म है, उसका सदा अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यह मैं तुम्हें सच्ची बात बता रहा हूँ॥ ६८½॥

ततः सर्वा महाभाग देवताः समरुद्गणाः॥ ६९॥
ऋषयश्च महाभागाः पृच्छन्ति स्म पितॄंस्ततः।

तब मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण महाभाग देवता और परम सौभाग्यशाली ऋषियोंने पितरोंसे पूछा—॥ ६९½॥

पितरः केन तुष्यन्ति मर्त्यानामल्पचेतसाम्॥ ७०॥
अक्षयं च कथं दानं भवेच्चैवोर्ध्वदेहिकम्।
आनृण्यं वा कथं मर्त्या गच्छेयुः केन कर्मणा॥ ७१॥
एतदिच्छामहे श्रोतुं परं कौतूहलं हि नः।

'मनुष्योंकी बुद्धि थोड़ी होती है; अतः वे कौन-सा कर्म करें, जिससे आप सम्पूर्ण पितर उनके ऊपर संतुष्ट होंगे? श्राद्धमें दिया हुआ दान किस प्रकार अक्षय हो सकता है? अथवा मनुष्य किस कर्मसे किस प्रकार पितरोंके ऋणसे छुटकारा पा सकते हैं? हम यह सुनना चाहते हैं। यह सब सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है'॥ ७०-७१½ ॥

पितर ऊचुः

न्यायतो वै महाभागाः संशयः समुदाहृतः॥ ७२॥
श्रूयतां येन तुष्यामो मर्त्यानां साधुकर्मणाम्।

पितरोंने कहा—महाभाग देवताओ! आपने न्यायतः अपना संदेह उपस्थित किया है। उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्योंके जिस कार्यसे हम संतुष्ट होते हैं, उसको सुनिये॥ ७२½ ॥'

नीलषण्डप्रमोक्षेण अमावास्यां तिलोदकैः॥ ७३॥
वर्षासु दीपकैश्चैव पितॄणामनृणो भवेत्।

नीले रंगके साँड़ छोड़नेसे, अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे और वर्षा-ऋतुमें पितरोंके लिये दीप देनेसे मनुष्य उनके ऋणसे मुक्त हो सकता है॥

अक्षयं निर्व्यलीकं च दानमेतन्महाफलम्॥ ७४॥
अस्माकं परितोषश्च अक्षयः परिकीर्त्यते।

इस तरह निष्कपट भावसे किया हुआ दान अक्षय एवं महान् फलदायक होता है और उससे हमें भी अक्षय संतोष प्राप्त होता है—ऐसा शास्त्रका कथन है॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या आहरिष्यन्ति संततिम्॥ ७५॥
दुर्गात् ते तारयिष्यन्ति नरकात् प्रपितामहान्।

जो मनुष्य पितरोंमें श्रद्धा रखकर संतान उत्पन्न करेंगे, वे अपने प्रपितामहोंका दुर्गम नरकसे उद्धार कर देंगे॥

पितॄणां भाषितं श्रुत्वा हृष्टरोमा तपोधनः॥ ७६॥
वृद्धगार्ग्यो महातेजास्तानेवं वाक्यमब्रवीत्।

पितरोंका यह भाषण सुनकर तपस्याके धनी महातेजस्वी वृद्धगार्ग्यके शरीरमें रोमांच हो आया और उनसे इस प्रकार पूछा—॥ ७६½ ॥

कं गुणा नीलषण्डस्य प्रमुक्तस्य तपोधनाः॥ ७७॥
वर्षासु दीपदानेन तथैव च तिलोदकैः।

'तपोधनो! नीले रंगके साँड़ छोड़ने, वर्षा-ऋतुमें दीप देने और अमावास्याको तिलमिश्रित जलद्वारा तर्पण करनेसे क्या लाभ होते हैं?''॥ ७७½ ॥

पितर ऊचुः

नीलषण्डस्य लाङ्गूलं तोयमभ्युद्धरेद् यदि॥ ७८॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः।

पितरोंने कहा—मुने! छोड़े हुए नीले रंगके साँड़की पूँछ यदि नदी आदिके जलमें भीगकर उस जलको ऊपर उछालती है तो जिसने उस साँड़को छोड़ा है उसके पितर साठ हजार वर्षोंतक उस जलसे तृप्त रहते हैं॥

यस्तु शृङ्गगतं पङ्कं कूलादुद्धृत्य तिष्ठति॥ ७९॥
पितरस्तेन गच्छन्ति सोमलोकमसंशयम्।

जो नदी या तालाबके तटसे अपने सींगोंद्वारा कीचड़ उछालकर खड़ा होता है, उससे वृषोत्सर्ग करनेवालेके पितर निस्संदेह चन्द्रलोकमें जाते हैं॥ ७९½ ॥

वर्षासु दीपदानेन शशिवच्छोभते नरः॥ ८०॥
तमोरूपं न तस्यास्ति दीपकं यः प्रयच्छति।

वर्षा-ऋतुमें दीपदान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान शोभा पाता है। जो दीपदान करता है, उसके लिये नरकका अन्धकार है ही नहीं॥ ८०½ ॥

अमावास्यां तु ये मर्त्याः प्रयच्छन्ति तिलोदकम्॥ ८१॥
पात्रमौदुम्बरं गृह्य मधुमिश्रं तपोधन।
कृतं भवति तैः श्राद्धं सरहस्यं यथार्थवत्॥ ८२॥

तपोधन! जो मनुष्य अमावास्याके दिन ताँबेके पात्रमें मधु एवं तिलसे मिश्रित जल लेकर उसके द्वारा पितरोंका तर्पण करते हैं, उनके द्वारा रहस्यसहित श्राद्धकर्म यथार्थरूपसे सम्पादित हो जाता है॥ ८१-८२॥

हृष्टपुष्टमनास्तेषां प्रजा भवति नित्यदा।
कुलवंशस्य वृद्धिस्तु पिण्डदस्य फलं भवेत्।
श्रद्दधानस्तु यः कुर्यात् पितॄणामनृणो भवेत्॥ ८३॥

उनकी प्रजा सदा हृष्ट-पुष्ट मनवाली होती है। कुल और वंश-परम्पराकी वृद्धि श्राद्धका फल है। पिण्डदान करनेवालेको यह फल सुलभ होता है। जो श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, वह उनके ऋणसे छुटकारा पा जाता है॥ ८३॥

एवमेव समुद्दिष्टः श्राद्धकालक्रमस्तथा।
विधिः पात्रं फलं चैव यथावदनुकीर्तितम्॥ ८४॥

इस प्रकार यह श्राद्धके काल, क्रम, विधि, पात्र और फलका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया गया है॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि पितृरहस्यं नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें पितरोंका रहस्य नामक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

विष्णु, बलदेव, देवगण, धर्म, अग्नि, विश्वामित्र, गोसमुदाय और ब्रह्माजीके द्वारा धर्मके गूढ़ रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

केन ते च भवेत् प्रीतिः कथं तुष्टिं तु गच्छसि।
इति पृष्टः सुरेन्द्रेण प्रोवाच हरिरीश्वरः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीन कालकी बात है, एक बार देवराज इन्द्रने भगवान् विष्णुसे पूछा—'भगवन्! आप किस कर्मसे प्रसन्न होते हैं? किस प्रकार आपको संतुष्ट किया जा सकता है?' सुरेन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर जगदीश्वर श्रीहरिने कहा॥ १॥

विष्णुरुवाच

ब्राह्मणानां परीवादो मम विद्वेषणं महत्।
ब्राह्मणैः पूजितैर्नित्यं पूजितोऽहं न संशयः॥ २॥

भगवान् विष्णु बोले—इन्द्र! ब्राह्मणोंकी निन्दा करना मेरे साथ महान् द्वेष करनेके समान है तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे सदा मेरी भी पूजा हो जाती हैं—इसमें संशय नहीं है॥ २॥

नित्याभिवाद्या विप्रेन्द्रा भुक्त्वा पादौ तथात्मनः।
तेषां तुष्यामि मर्त्यानां यश्चक्रे च बलिं हरेत्॥ ३॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। भोजनके पश्चात् अपने दोनों पैरोंकी भी सेवा करे अर्थात् पैरोंको भलीभाँति धो ले तथा तीर्थकी मृत्तिकासे सुदर्शन चक्र बनाकर उसपर मेरी पूजा करे और नाना प्रकारकी भेंट चढ़ावे। जो ऐसा करते हैं, उन मनुष्योंपर मैं सन्तुष्ट होता हूँ॥ ३॥

वामनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा वराहं च जलोत्थितम्।
उद्धृतां धरणीं चैव मूर्ध्ना धारयते तु यः॥ ४॥
न तेषामशुभं किंचित् कल्मषं चोपपद्यते।

जो मनुष्य बौने ब्राह्मण और पानीसे निकले हुए वराहको देखकर नमस्कार करता और उनकी उठायी मृत्तिकाको मस्तकसे लगाता है, ऐसे लोगोंको कभी कोई अशुभ या पाप नहीं प्राप्त होता॥ ४½॥

अश्वत्थं रोचनां गां च पूजयेद् यो नरः सदा॥ ५॥
पूजितं च जगत् तेन सदेवासुरमानुषम्।

जो मनुष्य अश्वत्थ वृक्ष, गोरोचना और गौकी सदा पूजा करता है, उसके द्वारा देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्की पूजा हो जाती है॥ ५½॥

तेन रूपेण तेषां च पूजां गृह्णामि तत्त्वतः॥ ६॥
पूजा ममैषा नास्त्यन्या यावल्लोकाः प्रतिष्ठिताः।

उस रूपमें उनके द्वारा की हुई पूजाको मैं यथार्थरूपसे अपनी पूजा मानकर ग्रहण करता हूँ। जबतक ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं, तबतक यह पूजा ही मेरी पूजा है। इससे भिन्न दूसरे प्रकारकी पूजा मेरी पूजा नहीं है॥ ६½॥

अन्यथा हि वृथा मर्त्याः पूजयन्त्यल्पबुद्धयः॥ ७॥
नाहं तत् प्रतिगृह्णामि न सा तुष्टिकरी मम॥ ८॥

अल्पबुद्धि मानव अन्य प्रकारसे मेरी व्यर्थ पूजा करते हैं। मैं उसे ग्रहण नहीं करता हूँ। वह पूजा मुझे संतोष प्रदान करनेवाली नहीं हैं॥ ७-८॥

इन्द्र उवाच

चक्रं पादौ वराहं च ब्राह्मणं चापि वामनम्।
उद्धृतां धरणीं चैव किमर्थं त्वं प्रशंससि॥ ९॥

इन्द्रने पूछा—भगवन्! आप चक्र, दोनों पैर, बौने ब्राह्मण, वराह और उनके द्वारा उठायी हुई मिट्टीकी प्रशंसा किसलिये करते हैं?॥ ९॥

भवान् सृजति भूतानि भवान् संहरति प्रजाः।
प्रकृतिः सर्वभूतानां समर्त्यानां सनातनी॥ १०॥

आप ही प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं, आप ही समस्त प्रजाका संहार करते हैं और आप ही मनुष्योंसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी सनातन प्रकृति (मूल कारण) हैं॥

भीष्म उवाच

सम्प्रहस्य ततो विष्णुरिदं वचनमब्रवीत्।
चक्रेण निहता दैत्याः पद्भ्यां क्रान्ता वसुन्धरा॥ ११॥
वाराहं रूपमास्थाय हिरण्याक्षो निपातितः।
वामनं रूपमास्थाय जितो राजा मया बलिः॥ १२॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब भगवान् विष्णुने हँसकर इस प्रकार कहा—'देवराज! मैंने चक्रसे दैत्योंको मारा है। दोनों पैरोंसे पृथ्वीको आक्रान्त किया है। वाराहरूप धारण करके हिरण्याक्ष दैत्यको धराशायी किया है और वामन ब्राह्मणका रूप ग्रहण करके मैंने राजा बलिको जीता है॥ ११-१२॥

परितुष्टो भवाम्येवं मानुषाणां महात्मनाम्।
तन्मां ये पूजयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः॥ १३॥

इन्द्रका भगवान् विष्णुके साथ प्रश्नोत्तर

इस तरह इन सबकी पूजा करनेसे मैं महामना मनुष्योंपर संतुष्ट होता हूँ। जो मेरी पूजा करेंगे, उनका कभी पराभव नहीं होगा॥ १३॥

अपि वा ब्राह्मणं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमागतम्।
ब्राह्मणाग्र्याहुतिं दत्त्वा अमृतं तस्य भोजनम्॥ १४॥

'ब्रह्मचारी ब्राह्मणको घरपर आया देख गृहस्थ पुरुष ब्राह्मणको प्रथम भोजन कराये, तत्पश्चात् स्वयं अवशिष्ट अन्नको ग्रहण करे तो उसका वह भोजन अमृतके समान माना गया है॥ १४॥

ऐन्द्रीं संध्यामुपासित्वा आदित्याभिमुखः स्थितः।
सर्वतीर्थेषु स स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥ १५॥

'जो प्रातःकालकी संध्या करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होता है, उसे समस्त तीर्थोंमें स्नानका फल मिलता है और वह सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है॥ १५॥

एतद् वः कथितं गुह्यमखिलेन तपोधनाः।
संशयं पृच्छमानानां किं भूयः कथयाम्यहम्॥ १६॥

'तपोधनो! तुमलोगोंने जो संशय पूछा है, उसके समाधानके लिये मैंने यह सारा गूढ़ रहस्य तुम्हें बताया है। बताओ और क्या कहूँ'॥ १६॥

बलदेव उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं मानुषाणां सुखावहम्।
अजानन्तो यदबुधाः क्लिश्यन्ते भूतपीडिताः॥ १७॥

बलदेवजीने कहा—जो मनुष्योंको सुख देनेवाला है तथा मूर्ख मानव जिसे न जाननेके कारण भूतोंसे पीड़ित हो नाना प्रकारके कष्ट उठाते रहते हैं, वह परम गोपनीय विषय मैं बता रहा हूँ; उसे सुनो॥ १७॥

कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि।
सर्षपं च प्रियङ्गुं च कल्मषात् प्रतिमुच्यते॥ १८॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गाय, घी, दही, सरसों और राईका स्पर्श करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है॥ १८॥

भूतानि चैव सर्वाणि अग्रतः पृष्ठतोऽपि वा।
उच्छिष्टं वापि च्छिद्रेषु वर्जयन्ति तपोधनाः॥ १९॥

तपस्वी पुरुष आगे या पीछेसे आनेवाले सभी हिंसक जन्तुओंको त्याग देते—उन्हें छोड़कर दूर हट जाते हैं। इसी प्रकार संकटके समय भी वे उच्छिष्ट वस्तुका सदा परित्याग ही करते हैं॥ १९॥

देवा ऊचुः

प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं तोयपूर्णमुदङ्मुखः।
उपवासं तु गृह्णीयाद् यद् वा संकल्पयेद् व्रतम्॥ २०॥

देवता बोले—मनुष्य जलसे भरा हुआ ताँबेका पात्र लेकर उत्तराभिमुख हो उपवासका नियम ले अथवा और किसी व्रतका संकल्प करे॥ २०॥

देवतास्तस्य तुष्यन्ति कामिकं चापि सिध्यति।
अन्यथा हि वृथा मर्त्याः कुर्वते स्वल्पबुद्धयः॥ २१॥

जो ऐसा करता है, उसके ऊपर देवता संतुष्ट होते हैं और उसकी सारी मनोवांछा सिद्ध हो जाती है; परन्तु मंदबुद्धि मानव ऐसा न करके व्यर्थ दूसरे-दूसरे कार्य किया करते हैं॥ २१॥

उपवासे बलौ चापि ताम्रपात्रं विशिष्यते।
बलिर्भिक्षा तथार्घ्यं च पितॄणां च तिलोदकम्॥ २२॥
ताम्रपात्रेण दातव्यमन्यथाल्पफलं भवेत्।
गुह्यमेतत् समुद्दिष्टं यथा तुष्यन्ति देवताः॥ २३॥

उपवासका संकल्प लेने और पूजाका उपचार समर्पित करनेमें ताम्रपात्रको उत्तम माना गया है। पूजन-सामग्री, भिक्षा, अर्घ्य तथा पितरोंके लिये तिल-मिश्रित जल ताम्रपात्रके द्वारा देने चाहिये अन्यथा उनका फल बहुत थोड़ा होता है। यह अत्यन्त गोपनीय बात बतायी गयी है। इसके अनुसार कार्य करनेसे देवता संतुष्ट होते हैं॥ २२-२३॥

धर्म उवाच

राजपौरुषिके विप्रे घाण्टिके परिचारिके।
गोरक्षके वाणिजके तथा कारुकुशीलवे॥ २४॥
मित्रद्रुह्यनधीयाने यश्च स्याद् वृषलीपतिः।
एतेषु दैवं पित्र्यं वा न देयं स्यात् कथंचन॥ २५॥
पिण्डदास्तस्य हीयन्ते न च प्रीणाति वै पितॄन्।

धर्मने कहा—ब्राह्मण यदि राजाका कर्मचारी हो, वेतन लेकर घण्टा बजानेका काम करता हो, दूसरोंका सेवक हो, गोरक्षा एवं वाणिज्यका व्यवसाय करता हो, शिल्पी या नट हो, मित्रद्रोही हो, वेद न पढ़ा हो अथवा शूद्र जातिकी स्त्रीका पति हो, ऐसे लोगोंको किसी तरह भी देवकार्य (यज्ञ) और पितृकार्य (श्राद्ध) का अन्न आदि नहीं देना चाहिये। जो इन्हें पिण्ड या अन्न देते हैं, उनकी अवनति होती है तथा उनके पितरोंको भी तृप्ति नहीं होती॥ २४-२५½॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते॥ २६॥
पितरस्तस्य देवाश्च अग्नयश्च तथैव हि।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति अतिथेरप्रतिग्रहात्॥ २७॥

जिसके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है, उसके यहाँसे अतिथिका सत्कार न होनेके कारण देवता, पितर

तथा अग्नि भी निराश लौट जाते हैं॥ २६-२७॥

स्त्रीघ्नैर्गोघ्नैः कृतघ्नैश्च ब्रह्मघ्नैर्गुरुतल्पगैः।
तुल्यदोषो भवत्येभिर्यस्यातिथिरनर्चितः॥ २८॥

जिसके यहाँ अतिथिका सत्कार नहीं होता, उस पुरुषको स्त्रीहत्यारों, गोघातकों, कृतघ्नों, ब्रह्मघातियों और गुरुपत्नीगामियोंके समान पाप लगता है॥ २८॥

अग्निरुवाच

पादमुद्यम्य यो मर्त्यः स्पृशेद् गाश्च सुदुर्मतिः।
ब्राह्मणं वा महाभागं दीप्यमानं तथानलम्॥ २९॥
तस्य दोषान् प्रवक्ष्यामि तच्छृणुध्वं समाहिताः।

अग्नि बोले—जो दुर्बुद्धि मनुष्य लात उठाकर उससे गौका, महाभाग ब्राह्मणका अथवा प्रज्वलित अग्निका स्पर्श करता है, उसके दोष बता रहा हूँ, सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ २९½॥

दिवं स्पृशत्यशब्दोऽस्य त्रस्यन्ति पितरश्च वै॥ ३०॥
वैमनस्यं च देवानां कृतं भवति पुष्कलम्।
पावकश्च महातेजा हव्यं न प्रतिगृह्णति॥ ३१॥

ऐसे मनुष्यकी अपकीर्ति स्वर्गतक फैल जाती है। उसके पितर भयभीत हो उठते हैं। देवताओंमें भी उसके प्रति भारी वैमनस्य हो जाता है तथा महातेजस्वी पावक उसके दिये हुए हविष्यको नहीं ग्रहण करते हैं॥ ३०-३१॥

आजन्मनां शतं चैव नरके पच्यते तु सः।
निष्कृतिं च न तस्यापि अनुमन्यन्ति कर्हिचित्॥ ३२॥

वह सौ जन्मोंतक नरकमें पकाया जाता है। ऋषिगण कभी उसके उद्धारका अनुमोदन नहीं करते हैं॥

तस्माद् गावो न पादेन स्प्रष्टव्या वै कदाचन।
ब्राह्मणश्च महातेजा दीप्यमानस्तथानलः॥ ३३॥
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता।
एते दोषा मया प्रोक्तास्त्रिषु यः पादमुत्सृजेत्॥ ३४॥

इसलिये अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु पुरुषको गौओंका, महातेजस्वी ब्राह्मणका तथा प्रज्वलित अग्निका भी कभी पैरसे स्पर्श नहीं करना चाहिये। जो इन तीनोंपर पैर उठाता है, उसे प्राप्त होनेवाले इन दोषोंका मैंने वर्णन किया है॥ ३३-३४॥

विश्वामित्र उवाच

श्रूयतां परमं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम्।
परमान्नेन यो दद्यात् पितॄणामौपहारिकम्॥ ३५॥
गजच्छायायां पूर्वस्यां कुतपे दक्षिणामुखः।
यदा भाद्रपदे मासि भवते बहुले मघा॥ ३६॥
श्रूयतां तस्य दानस्य यादृशो गुणविस्तरः।
कृतं तेन महच्छ्राद्धं वर्षाणीह त्रयोदश॥ ३७॥

विश्वामित्र बोले—देवताओ! यह धर्मसम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य सुनो, जब भाद्रपदमासके कृष्णपक्षमें त्रयोदशी तिथिको मघा नक्षत्रका योग हो, उस समय जो मनुष्य दक्षिणाभिमुख हो कुतप कालमें (मध्याह्नके बाद आठवें मुहूर्तमें) जब कि हाथीकी छाया पूर्व दिशाकी ओर पड़ रही हो, उस छायामें ही स्थित हो पितरोंके निमित्त उपहारके रूपमें उत्तम अन्नका दान करता है, उस दानका जैसा विस्तृत फल बताया गया है, वह सुनो। दान करनेवाले उस पुरुषने इस जगत्में तेरह वर्षोंके लिये पितरोंका महान् श्राद्ध सम्पन्न कर दिया, ऐसा जानना चाहिये॥ ३५—३७॥

गाव ऊचुः

बहुले समंगे ह्यकुतोऽभये च
क्षेमे च सख्येव हि भूयसी च।
यथा पुरा ब्रह्मपुरे सवत्सा
शतक्रतोर्वज्रधरस्य यज्ञे॥ ३८॥
भूयश्च या विष्णुपदे स्थिता या
विभावसोश्चापि पथे स्थिता या।
देवाश्च सर्वे सह नारदेन
प्रकुर्वते सर्वसहेति नाम॥ ३९॥

गौओंने कहा—पूर्वकालमें ब्रह्मलोकके भीतर वज्रधारी इन्द्रके यज्ञमें 'बहुले! समंगे! अकुतोभये! क्षेमे! सखी, भूयसी' इन नामोंका उच्चारण करके बछड़ोंसहित गौओंकी स्तुति की गयी थी, फिर जो-जो गौएँ आकाशमें स्थित थीं और जो सूर्यके मार्गमें विद्यमान थीं, नारदसहित सम्पूर्ण देवताओंने उनका 'सर्वसहा' नाम रख दिया॥ ३८-३९॥

मन्त्रेणैतेनाभिवन्देत यो वै
विमुच्यते पापकृतेन कर्मणा।
लोकानवाप्नोति पुरंदरस्य
गवां फलं चन्द्रमसो द्युतिं च॥ ४०॥

ये दोनों श्लोक मिलकर एक मन्त्र है। उस मन्त्रसे जो गौओंकी वन्दना करता है, वह पापकर्मसे मुक्त हो जाता है। गोसेवाके फलस्वरूप उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है तथा वह चन्द्रमाके समान कान्तिलाभ करता है॥ ४०॥

एतं हि मन्त्रं त्रिदशाभिजुष्टं
पठेत यः पर्वसु गोष्ठमध्ये।

न तस्य पापं न भयं न शोकः
सहस्रनेत्रस्य च याति लोकम्॥ ४१॥

जो पर्वके दिन गोशालामें इस देवसेवित मन्त्रका पाठ करता है, उसे न पाप होता है, न भय होता है और न शोक ही प्राप्त होता है। वह सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके लोकमें जाता है॥ ४१॥

भीष्म उवाच

अथ सप्त महाभागा ऋषयो लोकविश्रुताः।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ब्रह्माणं पद्मसम्भवम्॥ ४२॥
प्रदक्षिणमभिक्रम्य सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महान् सौभाग्यशाली विश्वविख्यात वसिष्ठ आदि सभी सप्तर्षियोंने कमलयोनि ब्रह्माजीकी प्रदक्षिणा की और सब-के-सब हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये॥ ४२½॥

उवाच वचनं तेषां वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः॥ ४३॥
सर्वप्राणिहितं प्रश्नं ब्रह्मक्षत्रे विशेषतः।

उनमेंसे ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिने समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रियजातिके लिये लाभदायक प्रश्न उपस्थित किया—॥ ४३½॥

द्रव्यहीनाः कथं मर्त्या दरिद्राः साधुवर्तिनः॥ ४४॥
प्राप्नुवन्तीह यज्ञस्य फलं केन च कर्मणा।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तेषां ब्रह्मा वचनमब्रवीत्॥ ४५॥

'भगवन्! इस संसारमें सदाचारी मनुष्य प्रायः दरिद्र एवं द्रव्यहीन हैं। वे किस कर्मसे किस तरह यहाँ यज्ञका फल पा सकते हैं?' उनकी यह बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा॥ ४४-४५॥

ब्रह्मोवाच

अहो प्रश्नो महाभागा गूढार्थः परमः शुभः।
सूक्ष्मः श्रेयांश्च मर्त्यानां भवद्भिः समुदाहृतः॥ ४६॥

ब्रह्माजी बोले—महान् भाग्यशाली सप्तर्षियो! तुम लोगोंने परम शुभकारक, गूढ़ अर्थसे युक्त, सूक्ष्म एवं मनुष्योंके लिये कल्याणकारी प्रश्न सामने रखा है॥

श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये निखिलेन तपोधनाः।
यथा यज्ञफलं मर्त्यो लभते नात्र संशयः॥ ४७॥

तपोधनो! मनुष्य जिस प्रकार बिना किसी संशयके यज्ञका फल पाता है, वह सब पूर्णरूपसे बताऊँगा, सुनो॥

पौषमासस्य शुक्ले वै यदा युज्येत रोहिणी।
तेन नक्षत्रयोगेन आकाशशयनो भवेत्॥ ४८॥
एकवस्त्रः शुचिः स्नातः श्रद्दधानः समाहितः।
सोमस्य रश्मयः पीत्वा महायज्ञफलं लभेत्॥ ४९॥

पौषमासके शुक्ल पक्षमें जिस दिन रोहिणी नक्षत्रका योग हो, उस दिनकी रातमें मनुष्य स्नान आदिसे शुद्ध हो एक वस्त्र धारण करके श्रद्धा और एकाग्रताके साथ खुले मैदानमें आकाशके नीचे शयन करे और चन्द्रमाकी किरणोंका ही पान करता रहे। ऐसा करनेसे उसको महान् यज्ञका फल मिलता है॥ ४८-४९॥

एतद् वः परमं गुह्यं कथितं द्विजसत्तमाः।
यन्मां भवन्तः पृच्छन्ति सूक्ष्मतत्त्वार्थदर्शिनः॥ ५०॥

विप्रवरो! तुमलोग सूक्ष्मतत्त्व एवं अर्थके ज्ञाता हो। तुमने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसके अनुसार मैंने तुम्हें यह परम गूढ़ रहस्य बताया है॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२६॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अग्नि, लक्ष्मी, अंगिरा, गार्ग्य, धौम्य तथा जमदग्निके द्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

विभावसुरुवाच

सलिलस्याञ्जलिं पूर्णमक्षताश्च घृतोत्तराः।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य तज्जलं चाक्षतांश्च तान्॥ १॥
स्थितो ह्यभिमुखो मर्त्यः पौर्णमास्यां बलिं हरेत्।
अग्निकार्यं कृतं तेन हुताश्चास्याग्नयस्त्रयः॥ २॥

अग्निदेवने कहा—जो मनुष्य पूर्णिमा तिथिको चन्द्रोदयके समय चन्द्रमाकी ओर मुँह करके उन्हें जलकी भरी हुई एक अंजलि घी और अक्षतके साथ भेंट करता है, उसने अग्निहोत्रका कार्य सम्पन्न कर लिया। उसके द्वारा गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियोंको भलीभाँति आहुति दे दी गयी॥ १-२॥

वनस्पतिं च यो हन्यादमावास्यामबुद्धिमान्।
अपि ह्येकेन पत्रेण लिप्यते ब्रह्महत्यया॥ ३॥

जो मूर्ख अमावास्याके दिन किसी वनस्पतिका

एक पत्ता भी तोड़ता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है॥ ३॥

दन्तकाष्ठं तु यः खादेदमावास्यामबुद्धिमान्।
हिंसितश्चन्द्रमास्तेन पितरश्चोद्विजन्ति च॥ ४॥

जो बुद्धिहीन मानव अमावास्या तिथिको दन्तधावन काष्ठ चबाता है, उसके द्वारा चन्द्रमाकी हिंसा होती है और पितर भी उससे उद्विग्न हो उठते हैं॥ ४॥

हव्यं न तस्य देवाश्च प्रतिगृह्णन्ति पर्वसु।
कुप्यन्ते पितरश्चास्य कुले वंशोऽस्य हीयते॥ ५॥

पर्वके दिन उसके दिये हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं। उसके पितर भी कुपित हो जाते हैं और उसके कुलमें वंशकी हानि होती है॥ ५॥

श्रीरुवाच

प्रकीर्णं भाजनं यत्र भिन्नभाण्डमथासनम्।
योषितश्चैव हन्यन्ते कश्मलोपहते गृहे॥ ६॥
देवताः पितरश्चैव उत्सवे पर्वणीषु वा।
निराशाः प्रतिगच्छन्ति कश्मलोपहताद् गृहात्॥ ७॥

लक्ष्मी बोलीं—जिस घरमें सब पात्र इधर-उधर बिखरे पड़े हों, बर्तन फूटे और आसन फटे हों तथा जहाँ स्त्रियाँ मारी-पीटी जाती हों, वह घर पापके कारण दूषित होता है। पापसे दूषित हुए उस गृहसे उत्सव और पर्वके अवसरोंपर देवता और पितर निराश लौट जाते हैं—उस घरकी पूजा नहीं स्वीकार करते॥ ६-७॥

अंगिरा उवाच

यस्तु संवत्सरं पूर्णं दद्याद् दीपं करञ्जके।
सुवर्चलामूलहस्तः प्रजा तस्य विवर्धते॥ ८॥

अंगिराने कहा—जो पूरे एक वर्षतक करंज (करज) वृक्षके नीचे दीपदान करे और ब्राह्मीबूटीकी जड़ हाथमें लिये रहे, उसकी संतति बढ़ती है॥ ८॥

गार्ग्य उवाच

आतिथ्यं सततं कुर्याद् दीपं दद्यात् प्रतिश्रये।
वर्जयानो दिवा स्वापं न च मांसानि भक्षयेत्॥ ९॥
गोब्राह्मणं न हिंस्याच्च पुष्कराणि च कीर्तयेत्।
एष श्रेष्ठतमो धर्मः सरहस्यो महाफलः॥ १०॥

गार्ग्यने कहा—सदा अतिथियोंका सत्कार करे, घरमें दीपक जलाये, दिनमें सोना छोड़ दे। मांस कभी न खाय। गौ और ब्राह्मणकी हत्या न करे तथा तीनों पुष्कर तीर्थोंका प्रतिदिन नाम लिया करे। यह रहस्यसहित श्रेष्ठतम धर्म महान् फल देनेवाला है॥ ९-१०॥

अपि क्रतुशतैरिष्ट्वा क्षयं गच्छति तद्धविः।
न तु क्षीयन्ति ते धर्माः श्रद्दधानैः प्रयोजिताः॥ ११॥

सैकड़ों बार किये हुए यज्ञका फल भी क्षीण हो जाता है; किंतु श्रद्धालु पुरुषोंद्वारा उपर्युक्त धर्मोंका पालन किया जाय तो वे कभी क्षीण नहीं होते॥ ११॥

इदं च परमं गुह्यं सरहस्यं निबोधत।
श्राद्धकल्पे च दैवे च तैर्थिके पर्वणीषु च॥ १२॥
रजस्वला च या नारी श्वित्रिकापुत्रिका च या।
एताभिश्चक्षुषा दृष्टं हविर्नाश्नन्ति देवताः॥ १३॥
पितरश्च न तुष्यन्ति वर्षाण्यपि त्रयोदश।

यह परम गोपनीय रहस्यकी बात सुनो। श्राद्धमें, यज्ञमें, तीर्थमें और पर्वोंके दिन देवताओंके लिये जो हविष्य तैयार किया जाता है, उसे यदि रजस्वला, कोढ़ी अथवा वन्ध्या स्त्री देख ले तो उनके नेत्रोंद्वारा देखे हुए हविष्यको देवता नहीं ग्रहण करते हैं तथा पितर भी तेरह वर्षोंतक असंतुष्ट रहते हैं॥ १२-१३½॥

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्।
कीर्तयेद् भारतं चैव तथा स्यादक्षयं हविः॥ १४॥

श्राद्ध और यज्ञके दिन मनुष्य स्नान आदिसे पवित्र होकर श्वेत वस्त्र धारण करे। ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराये तथा महाभारत (गीता आदि) का पाठ करे। ऐसा करनेसे उसका हव्य और कव्य अक्षय होता है॥ १४॥

धौम्य उवाच

भिन्नभाण्डं च खट्वां च कुक्कुटं शुनकं तथा।
अप्रशस्तानि सर्वाणि यश्च वृक्षो गृहेरुहः॥ १५॥

धौम्य बोले—घरमें फूटे बर्तन, टूटी खाट, मुर्गा, कुत्ता और अश्वत्थादि वृक्षका होना अच्छा नहीं माना गया है॥ १५॥

भिन्नभाण्डे कलिं प्राहुः खट्वायां तु धनक्षयः।
कुक्कुटे शुनके चैव हविर्नाश्नन्ति देवताः।
वृक्षमूले ध्रुवं सत्त्वं तस्माद् वृक्षं न रोपयेत्॥ १६॥

फूटे बर्तनमें कलियुगका वास कहा गया है। टूटी खाट रहनेसे धनकी हानि होती है। मुर्गे और कुत्तेके रहनेपर देवता उस घरमें हविष्य नहीं ग्रहण करते तथा मकानके अंदर कोई बड़ा वृक्ष होनेपर उसकी जड़के अंदर साँप, बिच्छू आदि जन्तुओंका रहना अनिवार्य हो जाता है; इसलिये घरके भीतर पेड़ न लगावे॥ १६॥

जमदग्निरुवाच

यो यजेदश्वमेधेन वाजपेयशतेन ह।
अवाक्शिरा वा लम्बेत मत्रं वा स्फीतमाहरेत्॥ १७॥

न यस्य हृदयं शुद्धं नरकं स ध्रुवं व्रजेत्।
तुल्यं यज्ञश्च सत्यं च हृदयस्य च शुद्धता॥ १८॥

जमदग्नि बोले—कोई अश्वमेध या सैकड़ों बाजपेय यज्ञ करे, नीचे मस्तक करके वृक्षमें लटके अथवा समृद्धिशाली सत्र खोल दे; किंतु जिसका हृदय शुद्ध नहीं है, वह पापी निश्चय ही नरकमें जाता है; क्योंकि यज्ञ, सत्य और हृदयकी शुद्धि तीनों बराबर हैं (फिर भी हृदयकी शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है)॥ १७-१८॥

शुद्धेन मनसा दत्त्वा सक्तुप्रस्थं द्विजातये।
ब्रह्मलोकमनुप्राप्तः पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥ १९॥

(प्राचीन समयमें एक ब्राह्मण) शुद्ध हृदयसे ब्राह्मणको सेरभर सत्तू दान करके ही ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ था। हृदयकी शुद्धिका महत्त्व बतानेके लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२७॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

वायुके द्वारा धर्माधर्मके रहस्यका वर्णन

वायुरुवाच

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि मानुषाणां सुखावहम्।
सरहस्याश्च ये दोषास्तान् शृणुध्वं समाहिताः॥ १॥

वायुदेवने कहा—मैं मनुष्योंके लिये सुखदायक धर्मका किंचित् वर्णन करता हूँ और रहस्यसहित जो दोष हैं, उन्हें भी बतलाता हूँ। तुम सब लोग एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ १॥

अग्निकार्यं च कर्तव्यं परमान्नेन भोजनम्।
दीपकश्चापि कर्तव्यः पितृणां सतिलोदकः॥ २॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिये। श्राद्धके दिन उत्तम अन्नके द्वारा ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। पितरोंके लिये दीप-दान तथा तिलमिश्रित जलसे तर्पण करना चाहिये॥ २॥

एतेन विधिना मर्त्यः श्रद्दधानः समाहितः।
चतुरो वार्षिकान् मासान् यो ददाति तिलोदकम्॥ ३॥
भोजनं च यथाशक्त्या ब्राह्मणे वेदपारगे।
पशुबन्धशतस्येह फलं प्राप्नोति पुष्कलम्॥ ४॥

जो मनुष्य श्रद्धा और एकाग्रताके साथ इस विधिसे वर्षाके चार महीनोंतक पितरोंको तिलमिश्रित जलकी अंजलि देता है और वेद-शास्त्रके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको यथाशक्ति भोजन कराता है, वह सौ यज्ञोंका पूरा फल प्राप्त कर लेता है॥ ३-४॥

इदं चैवापरं गुह्यमप्रशस्तं निबोधत।
अग्नेस्तु वृषलो नेता हविर्मूढाश्च योषितः॥ ५॥
मन्यते धर्म एवेति स चाधर्मेण लिप्यते।
अग्नयस्तस्य कुप्यन्ति शूद्रयोनिं स गच्छति॥ ६॥

अब यह दूसरी उस गोपनीय बातको सुनो, जो उत्तम नहीं है अर्थात् निन्दनीय है। यदि शूद्र किसी द्विजके अग्निहोत्रकी अग्निको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाता है तथा मूर्ख स्त्रियाँ यज्ञ-सम्बन्धी हविष्यको ले जाती हैं—इस कार्यको जो धर्म ही समझता है, वह अधर्मसे लिप्त होता है। उसके ऊपर अग्नियोंका कोप होता है और वह शूद्रयोनिमें जन्म लेता है॥ ५-६॥

पितरश्च न तुष्यन्ति सह देवैर्विशेषतः।
प्रायश्चित्तं तु यत् तत्र ब्रुवतस्तन्निबोध मे॥ ७॥

उसके ऊपर देवताओंसहित पितर भी विशेष संतुष्ट नहीं होते हैं। ऐसे स्थलोंपर जो प्रायश्चित्तका विधान है, उसे बताता हूँ, सुनो॥ ७॥

यत् कृत्वा तु नरः सम्यक् सुखी भवति विज्वरः।
गवां मूत्रपुरीषेण पयसा च घृतेन च॥ ८॥
अग्निकार्यं त्र्यहं कुर्यान्निराहारः समाहितः।
ततः संवत्सरे पूर्णे प्रतिगृह्णन्ति देवताः॥ ९॥
हृष्यन्ति पितरश्चास्य श्राद्धकाल उपस्थिते।

उसका भलीभाँति अनुष्ठान करके मनुष्य सुखी और निश्चिन्त हो जाता है। द्विजको चाहिये कि वह निराहार एवं एकाग्रचित्त होकर तीन दिनोंतक गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध और गोघृतसे अग्निमें आहुति दे। तत्पश्चात् एक वर्ष पूर्ण होनेपर देवता उसकी पूजा ग्रहण करते हैं और पितर भी उसके यहाँ श्राद्धकाल उपस्थित होनेपर प्रसन्न होते हैं॥ ८-९½॥

एष ह्यधर्मो धर्मश्च सरहस्यः प्रकीर्तितः॥ १०॥

मर्त्यानां स्वर्गकामानां प्रेत्य स्वर्गसुखावहः॥ ११॥

इस प्रकार मैंने रहस्यसहित धर्म और अधर्मका वर्णन किया। यह स्वर्गकी कामनावाले मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् स्वर्गीय सुखकी प्राप्ति करानेवाला है॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि देवरहस्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें देवताओंका रहस्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लोमशद्वारा धर्मके रहस्यका वर्णन

लोमश उवाच

परदारेषु ये सक्ता अकृत्वा दारसंग्रहम्।
निराशाः पितरस्तेषां श्राद्धकाले भवन्ति वै॥ १॥

लोशमजीने कहा—जो स्वयं विवाह न करके परायी स्त्रियोंमें आसक्त हैं, उनके यहाँ श्राद्ध-काल आनेपर पितर निराश हो जाते हैं॥ १॥

परदाररतिर्यश्च यश्च वन्ध्यामुपासते।
ब्रह्मस्वं हरते यश्च समदोषा भवन्ति ते॥ २॥

जो परायी स्त्रीमें आसक्त है, जो वन्ध्या स्त्रीका सेवन करता है तथा जो ब्राह्मणका धन हर लेता है—ये तीनों समान दोषके भागी होते हैं॥ २॥

असम्भाष्या भवन्त्येते पितृणां नात्र संशयः।
देवताः पितरश्चैषां नाभिनन्दन्ति तद्धविः॥ ३॥

ये पितरोंकी दृष्टिमें बात करनेयोग्य नहीं रह जाते हैं, इसमें संशय नहीं है और देवता तथा पितर उसके हविष्यको आदर नहीं देते हैं॥ ३॥

तस्मात् परस्य वै दारांस्त्यजेद् वन्ध्यां च योषितम्।
ब्रह्मस्वं हि न हर्तव्यमात्मनो हितमिच्छता॥ ४॥

अतः अपना हित चाहनेवाले पुरुषको परायी स्त्री और वन्ध्या स्त्रीका त्याग कर देना चाहिये तथा ब्राह्मणके धनका कभी अपहरण नहीं करना चाहिये॥ ४॥

श्रूयतां चापरं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम्।
श्रद्दधानेन कर्तव्यं गुरूणां वचनं सदा॥ ५॥

अब दूसरी धर्मयुक्त गोपनीय रहस्यकी बात सुनो। सदा श्रद्धापूर्वक गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये॥ ५॥

द्वादश्यां पौर्णमास्यां च मासि मासि घृताक्षतम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छेत तस्य पुण्यं निबोधत॥ ६॥

प्रत्येक मासकी द्वादशी और पूर्णिमाके दिन ब्राह्मणोंको घृतसहित चावलोंका दान करे। इसका जो पुण्य है, उसे सुनो॥ ६॥

सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः।
अश्वमेधचतुर्भागं फलं सृजति वासवः॥ ७॥

उस दानसे चन्द्रमा तथा महोदधि समुद्रकी वृद्धि होती है और उस दाताको इन्द्र अश्वमेध यज्ञका चतुर्थांश फल देते हैं॥ ७॥

दानेनैतेन तेजस्वी वीर्यवांश्च भवेन्नरः।
प्रीतश्च भगवान् सोम इष्टान् कामान् प्रयच्छति॥ ८॥

उस दानसे मनुष्य तेजस्वी और बलवान् होता है और भगवान् सोम प्रसन्न होकर उसे अभीष्ट कामनाएँ प्रदान करते हैं॥ ८॥

श्रूयतां चापरो धर्मः सरहस्यो महाफलः।
इदं कलियुगं प्राप्य मनुष्याणां सुखावहः॥ ९॥

अब दूसरे महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका वर्णन सुनो। जो इस कलियुगको पाकर मनुष्योंके लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है॥ ९॥

कल्यमुत्थाय यो मर्त्यः स्नातः शुक्लेन वाससा।
तिलपात्रं प्रयच्छेत ब्राह्मणेभ्यः समाहितः॥ १०॥
तिलोदकं च यो दद्यात् पितृणां मधुना सह।
दीपकं कृसरं चैव श्रूयतां तस्य यत् फलम्॥ ११॥

जो मनुष्य सबेरे उठकर स्नान करके पवित्र सफेद वस्त्रसे युक्त हो मनको एकाग्र करके ब्राह्मणोंको तिल-पात्रका दान करता है और पितरोंके लिये मधुयुक्त तिलोदक, दीपक एवं खिचड़ी देता है, उसको जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो॥ १०-११॥

तिलपात्रे फलं प्राह भगवान् पाकशासनः।
गोप्रदानं च यः कुर्याद् भूमिदानं च शाश्वतम्॥ १२॥
अग्निष्टोमं च यो यज्ञं यजेत बहुदक्षिणम्।
तिलपात्रं सहैतेन समं मन्यन्ति देवताः॥ १३॥

भगवान् इन्द्रने तिल-पात्रके दानका फल इस

प्रकार बतलाया है—जो सदा गो-दान और भूमि-दान करता है तथा जो बहुत-सी दक्षिणावाले अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान करता है, उसके इन पुण्य-कर्मोंके समान ही देवतालोग तिल-पात्रके दानको भी मानते हैं॥ १२-१३॥

तिलोदकं सदा श्राद्धे मन्यन्ते पितरोऽक्षयम्।
दीपे च कृसरे चैव तुष्यन्तेऽस्य पितामहाः॥ १४॥

पितरलोग सदा श्राद्धमें तिलसहित जलका दान करना अक्षय मानते हैं। दीपदान और खिचड़ीके दानसे उसके पितामह संतुष्ट होते हैं॥ १४॥

स्वर्गे च पितृलोके च पितृदेवाभिपूजितम्।
एवमेतन्मयोद्दिष्टमृषिदृष्टं पुरातनम्॥ १५॥

यह पुरातन धर्म-रहस्य ऋषियोंद्वारा देखा गया है। स्वर्गलोक और पितृलोकमें भी देवताओं तथा पितरोंने इसका समादर किया है। इस प्रकार इस धर्मका मैंने वर्णन किया है॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि लोमशरहस्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १२९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें लोमशवर्णित धर्मका रहस्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२९॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अरुन्धती, धर्मराज और चित्रगुप्तद्वारा धर्मसम्बन्धी रहस्यका वर्णन

भीष्म उवाच

ततस्त्वृषिगणाः सर्वे पितरश्च सदेवताः।
अरुन्धतीं तपोवृद्धामपृच्छन्त समाहिताः॥ १॥
समानशीलां वीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।
त्वत्तो धर्मरहस्यानि श्रोतुमिच्छामहे वयम्।
यत्ते गुह्यतमं भद्रे तत् प्रभाषितुमर्हसि॥ २॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी ऋषियों, पितरों और देवताओंने तपस्यामें बढ़ी-चढ़ी हुई अरुन्धती देवीसे, जो शील और शक्तिमें महात्मा वसिष्ठजीके ही समान थीं, एकाग्रचित्त होकर पूछा—'भद्रे! हम आपके मुँहसे धर्मका रहस्य सुनना चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें जो गुह्यतम धर्म हो, उसे बतानेकी कृपा करें'॥ १-२॥

अरुन्धत्युवाच

तपोवृद्धिर्मया प्राप्ता भवतां स्मरणेन वै।
भवतां च प्रसादेन धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ३॥
सगुह्यान् सरहस्यांश्च तान् शृणुध्वमशेषतः।
श्रद्दधाने प्रयोक्तव्या यस्य शुद्धं तथा मनः॥ ४॥

अरुन्धती बोली—देवगण! आपलोगोंने मुझे स्मरण किया, इससे मेरे तपकी वृद्धि हुई है। अब मैं आप ही लोगोंकी कृपासे गोपनीय रहस्योंसहित सनातन धर्मोंका वर्णन करती हूँ, आपलोग वह सब सुनें। जिसका मन शुद्ध हो, उस श्रद्धालु पुरुषको ही इन धर्मोंका उपदेश करना चाहिये॥ ३-४॥

अश्रद्दधानो मानी च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
अमम्भाष्या हि चत्वारो नैषां धर्मः प्रकाशयेत्॥ ५॥

जो श्रद्धासे रहित, अभिमानी, ब्रह्महत्यारे और गुरुस्त्रीगामी हैं, इन चार प्रकारके मनुष्योंसे बात भी नहीं करनी चाहिये। इनके सामने धर्मके रहस्यको प्रकाशित न करे॥ ५॥

अहन्यहनि यो दद्यात् कपिलां द्वादशीः समाः।
मासि मासि च सत्रेण यो यजेत सदा नरः॥ ६॥
गवां शतसहस्रं च यो दद्याज्ज्येष्ठपुष्करे।
न तद्धर्मफलं तुल्यमतिथिर्यस्य तुष्यति॥ ७॥

जो मनुष्य बारह वर्षोंतक प्रतिदिन एक-एक कपिला गौका दान करता है, हर महीनेमें निरन्तर सत्रयाग चलाता और ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें जाकर एक लाख गोदान करता है, उसके धर्मका फल उस मनुष्यके बराबर नहीं हो सकता, जिसके द्वारा की हुई सेवासे अतिथि संतुष्ट हो जाता है॥ ६-७॥

श्रूयतां चापरो धर्मो मनुष्याणां सुखावहः।
श्रद्दधानेन कर्तव्यः सरहस्यो महाफलः॥ ८॥

अब मनुष्योंके लिये सुखदायक तथा महान् फल देनेवाले दूसरे धर्मका रहस्यसहित वर्णन सुनो। श्रद्धापूर्वक इसका पालन करना चाहिये॥ ८॥

कल्यमुत्थाय गोमध्ये गृह्य दर्भान् सहोदकान्।
निषिञ्चेत गवां शृङ्गे मस्तकेन च तज्जलम्॥ ९॥
प्रतीच्छेत निराहारस्तस्य धर्मफलं शृणु।

सबेरे उठकर कुश और जल हाथमें ले गौओंके बीचमें जाय। वहाँ गौओंके सींगपर जल छिड़के और सींगसे गिरे हुए जलको अपने मस्तकपर धारण करे।

साथ ही उस दिन निराहार रहे। ऐसे पुरुषको जो धर्मका फल मिलता है, उसे सुनो॥ ९½॥

श्रूयन्ते यानि तीर्थानि त्रिषु लोकेषु कानिचित्॥ १०॥
सिद्धचारणजुष्टानि सेवितानि महर्षिभिः।
अभिषेकः समस्तेषां गवां शृङ्गोदकस्य च॥ ११॥

तीनों लोकोंमें सिद्ध, चारण और महर्षियोंसे सेवित जो कोई भी तीर्थ सुने जाते हैं, उन सबमें स्नान करनेसे जो फल मिलता है वही गायोंके सींगके जलसे अपने मस्तकको सींचनेसे प्राप्त होता है॥ १०-११॥

साधु साध्विति चोद्दिष्टं दैवतैः पितृभिस्तथा।
भूतैश्चैव सुसंहृष्टैः पूजिता साप्यरुन्धती॥ १२॥

यह सुनकर देवता, पितर और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। उन सबने उन्हें साधुवाद दिया और अरुन्धती देवीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ १२॥

पितामह उवाच

अहो धर्मो महाभागे सरहस्य उदाहृतः।
वरं ददामि ते धन्ये तपस्ते वर्धतां सदा॥ १३॥

ब्रह्माजीने कहा—महाभागे! तुम धन्य हो, तुमने रहस्यसहित अद्भुत धर्मका वर्णन किया है। मैं तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम्हारी तपस्या सदा बढ़ती रहे॥ १३॥

यम उवाच

रमणीया कथा दिव्या युष्मत्तो या मया श्रुता।
श्रूयतां चित्रगुप्तस्य भाषितं मम च प्रियम्॥ १४॥

यमराजने कहा—देवताओ और महर्षियो! मैंने आपलोगोंके मुखसे दिव्य एवं मनोरम कथा सुनी है, अब आपलोग चित्रगुप्तका तथा मेरा भी प्रिय भाषण सुनिये॥

रहस्यं धर्मसंयुक्तं शक्यं श्रोतुं महर्षिभिः।
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता॥ १५॥

इस धर्मयुक्त रहस्यको महर्षि भी सुन सकते हैं। अपना हित चाहनेवाले श्रद्धालु मनुष्यको भी इसे श्रवण करना चाहिये॥ १५॥

न हि पुण्यं तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति।
पर्वकाले च यत् किंचिदादित्यं चाधितिष्ठति॥ १६॥

मनुष्यका किया हुआ कोई भी पुण्य तथा पाप भोगके बिना नष्ट नहीं होता। पर्वकालमें जो कुछ भी दान किया जाता है, वह सब सूर्यदेवके पास पहुँचता है॥

प्रेतलोकं गते मर्त्ये तत् तत् सर्वं विभावसुः।
प्रतिजानाति पुण्यात्मा तच्च तत्रोपयुज्यते॥ १७॥

जब मनुष्य प्रेतलोकको जाता है, उस समय सूर्यदेव वे सारी वस्तुएँ उसे अर्पित कर देते हैं और पुण्यात्मा पुरुष परलोकमें उन वस्तुओंका उपभोग करता है॥

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि चित्रगुप्तमतं शुभम्।
पानीयं चैव दीपं च दातव्यं सततं तथा॥ १८॥

अब मैं चित्रगुप्तके मतके अनुसार कुछ कल्याणकारी धर्मका वर्णन करता हूँ। मनुष्यको जलदान और दीपदान सदा ही करने चाहिये॥ १८॥

उपानहौ च छत्रं च कपिला च यथातथम्।
पुष्करे कपिला देया ब्राह्मणे वेदपारगे॥ १९॥
अग्निहोत्रं च यत्नेन सर्वशः प्रतिपालयेत्।

उपानह (जूता), छत्र तथा कपिला गौका भी यथोचित रीतिसे दान करना चाहिये। पुष्कर तीर्थमें वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको कपिला गाय देनी चाहिये और अग्निहोत्रके नियमका सब तरहसे प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये॥ १९½॥

अयं चैवापरो धर्मश्चित्रगुप्तेन भाषितः॥ २०॥
फलमस्य पृथक्त्वेन श्रोतुमर्हन्ति सत्तमाः।
प्रलयं सर्वभूतैस्तु गन्तव्यं कालपर्ययात्॥ २१॥

इसके सिवा यह एक दूसरा धर्म भी चित्रगुप्तने बताया है। उसके पृथक्-पृथक् फलका वर्णन सभी साधु पुरुष सुनें। समस्त प्राणी कालक्रमसे प्रलयको प्राप्त होते हैं॥

तत्र दुर्गमनुप्राप्ताः क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः।
दह्यमाना विपच्यन्ते न तत्रास्ति पलायनम्॥ २२॥

पापोंके कारण दुर्गम नरकमें पड़े हुए प्राणी भूख-प्याससे पीड़ित हो आगमें जलते हुए पकाये जाते हैं। वहाँ उस यातनासे निकल भागनेका कोई उपाय नहीं है॥

अन्धकारं तमो घोरं प्रविशन्त्यल्पबुद्धयः।
तत्र धर्मं प्रवक्ष्यामि येन दुर्गाणि संतरेत्॥ २३॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही नरकके घोर दुःखमय अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। उस अवसरके लिये मैं धर्मका उपदेश करता हूँ, जिससे मनुष्य दुर्गम नरकसे पार हो सकता है॥ २३॥

अल्पव्ययं महार्थं च प्रेत्य चैव सुखोदयम्।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोके विशेषतः॥ २४॥

उस धर्ममें व्यय बहुत थोड़ा है, परंतु लाभ महान् है। उससे मृत्युके पश्चात् भी उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। जलके गुण दिव्य हैं। प्रेतलोकमें ये गुण विशेषरूपसे लक्षित होते हैं॥ २४॥

तत्र पुण्योदका नाम नदी तेषां विधीयते।
अक्षयं सलिलं तत्र शीतलं ह्यमृतोपमम्॥ २५॥

वहाँ पुण्योदका नामसे प्रसिद्ध नदी है, जो यमलोकनिवासियोंके लिये विहित है। उसमें अमृतके समान मधुर, शीतल एवं अक्षय जल भरा रहता है॥

स तत्र तोयं पिबति पानीयं यः प्रयच्छति।
प्रदीपस्य प्रदानेन श्रूयतां गुणविस्तरः॥ २६॥

जो यहाँ जलदान करता है, वही परलोकमें जानेपर उस नदीका जल पीता है। अब दीपदानसे जो अधिकाधिक लाभ होता है, उसको सुनो॥ २६॥

तमोऽन्धकारं नियतं दीपदो न प्रपश्यति।
प्रभां चास्य प्रयच्छन्ति सोमभास्करपावकाः॥ २७॥

दीपदान करनेवाला मनुष्य नरकके नियत अन्धकारका दर्शन नहीं करता। उसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि प्रकाश देते रहते हैं॥ २७॥

देवताश्चानुमन्यन्ते विमलाः सर्वतो दिशः।
द्योतते च यथाऽऽदित्यः प्रेतलोकगतो नरः॥ २८॥

देवता भी दीपदान करनेवालेका आदर करते हैं। उसके लिये सम्पूर्ण दिशाएँ निर्मल होती हैं तथा प्रेतलोकमें जानेपर वह मनुष्य सूर्यके समान प्रकाशित होता है॥

तस्माद् दीपः प्रदातव्यः पानीयं च विशेषतः।
कपिलां ये प्रयच्छन्ति ब्राह्मणे वेदपारगे॥ २९॥
पुष्करे च विशेषेण श्रूयतां तस्य यत् फलम्।
गोशतं सवृषं तेन दत्तं भवति शाश्वतम्॥ ३०॥

इसलिये विशेष यत्न करके दीप और जलका दान करना चाहिये। विशेषतः पुष्कर तीर्थमें जो वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको कपिला दान करते हैं, उन्हें उस दानका जो फल मिलता है, उसे सुनो। उसे साँड़ों-सहित सौ गौओंके दानका शाश्वत फल प्राप्त होता है॥

पापं कर्म च यत् किंचिद् ब्रह्महत्यासमं भवेत्।
शोधयेत् कपिला ह्येका प्रदत्तं गोशतं यथा॥ ३१॥
तस्मात्तु कपिला देया कौमुद्यां ज्येष्ठपुष्करे।

ब्रह्महत्याके समान जो कोई पाप होता है, उसे एकमात्र कपिलाका दान शुद्ध कर देता है। वह एक ही गोदान सौ गोदानोंके बराबर है। इसलिये ज्येष्ठपुष्कर तीर्थमें कार्तिककी पूर्णिमाको अवश्य कपिला गौका दान करना चाहिये॥ ३१½॥

न तेषां विषमं किंचिन्न दुःखं न च कण्टकाः॥ ३२॥
उपानहौ च यो दद्यात् पात्रभूते द्विजोत्तमे।
छत्रदाने सुखां छायां लभते परलोकगः॥ ३३॥

जो श्रेष्ठ एवं सुपात्र ब्राह्मणको उपानह (जूता) दान करता है, उसके लिये कहीं कोई विषम स्थान नहीं है। न उसे दुःख उठाना पड़ता है और न काँटोंका ही सामना करना पड़ता है। छत्र-दान करनेसे परलोकमें जानेपर दाताको सुखदायिनी छाया सुलभ होती है॥

न हि दत्तस्य दानस्य नाशोऽस्तीह कदाचन।
चित्रगुप्तमतं श्रुत्वा हृष्टरोमा विभावसुः॥ ३४॥
उवाच देवताः सर्वाः पितॄंश्चैव महाद्युतिः।
श्रुतं हि चित्रगुप्तस्य धर्मगुह्यं महात्मनः॥ ३५॥

इस लोकमें दिये हुए दानका कभी नाश नहीं होता। चित्रगुप्तका यह मत सुनकर भगवान् सूर्यके शरीरमें रोमांच हो आया। उन महातेजस्वी सूर्यने सम्पूर्ण देवताओं और पितरोंसे कहा—'आपलोगोंने महामना चित्रगुप्तके धर्मविषयक गुप्त रहस्यको सुन लिया॥

श्रद्दधानाश्च ये मर्त्या ब्राह्मणेषु महात्मसु।
दानमेतत् प्रयच्छन्ति न तेषां विद्यते भयम्॥ ३६॥

'जो मनुष्य महामनस्वी ब्राह्मणोंपर श्रद्धा करके यह दान देते हैं, उन्हें भय नहीं होता'॥ ३६॥

धर्मदोषास्त्विमे पञ्च येषां नास्तीह निष्कृतिः।
असम्भाष्या अनाचारा वर्जनीया नराधमाः॥ ३७॥

आगे बताये जानेवाले पाँच धर्मविषयक दोष जिनमें विद्यमान हैं, उनका यहाँ कभी उद्धार नहीं होता। ऐसे अनाचारी नराधमोंसे बात नहीं करनी चाहिये। उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये॥ ३७॥

ब्रह्महा चैव गोघ्नश्च परदाररतश्च यः।
अश्रद्दधानश्च नरः स्त्रियं यश्चोपजीवति॥ ३८॥

ब्रह्महत्यारा, गोहत्या करनेवाला, परस्त्रीलम्पट, अश्रद्धालु तथा जो स्त्रीपर निर्भर रहकर जीविका चलाता है—ये ही पूर्वोक्त पाँच प्रकारके दुराचारी हैं॥ ३८॥

प्रेतलोकगता ह्येते नरके पापकर्मिणः।
पच्यन्ते वै यथा मीनाः पूयशोणितभोजनाः॥ ३९॥

ये पापकर्मी मनुष्य प्रेतलोकमें जाकर नरककी आगमें मछलियोंकी तरह पकाये जाते हैं और पीब तथा रक्त भोजन करते हैं॥ ३९॥

असम्भाष्याः पितॄणां च देवानां चैव पञ्च ते।
स्नातकानां च विप्राणां ये चान्ये च तपोधनाः॥ ४०॥

इन पाँचों पापाचारियोंसे देवताओं, पितरों, स्नातक ब्राह्मणों तथा अन्यान्य तपोधनोंको बातचीत भी नहीं करनी चाहिये॥ ४०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अरुन्धतीचित्रगुप्तरहस्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें अरुन्धती और चित्रगुप्तका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३०॥

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

प्रमथगणोंके द्वारा धर्माधर्मसम्बन्धी रहस्यका कथन

भीष्म उवाच

ततः सर्वे महाभागा देवाश्च पितरश्च ह।
ऋषयश्च महाभागाः प्रमथान् वाक्यमब्रुवन्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभी महाभाग देवता, पितर तथा महान् भाग्यशाली महर्षि प्रमथगणोंसे बोले—॥ १॥

भवन्तो वै महाभागा अपरोक्षनिशाचराः।
उच्छिष्टानशुचीन् क्षुद्रान् कथं हिंसथ मानवान्॥ २॥

'महाभागगण! आपलोग प्रत्यक्ष निशाचर हैं। बताइये, अपवित्र, उच्छिष्ट और शूद्र मनुष्योंकी किस तरह और क्यों हिंसा करते हैं?॥ २॥

के च स्मृताः प्रतीघाता येन मर्त्यान् न हिंसथ।
रक्षोघ्नानि च कानि स्युर्यैर्गृहेषु प्रणश्यथ।
श्रोतुमिच्छाम युष्माकं सर्वमेतन्निशाचराः॥ ३॥

'वे कौन-से प्रतिघात (शत्रुके आघातोंको रोक देनेवाले उपाय) हैं, जिनका आश्रय लेनेसे आपलोग उन मनुष्योंकी हिंसा नहीं करते। वे रक्षोघ्न मन्त्र कौन-से हैं, जिनका उच्चारण करनेसे आपलोग घरमें ही नष्ट हो जायँ या भाग जायँ? निशाचरो! ये सारी बातें हम आपके मुखसे सुनना चाहते हैं'॥ ३॥

प्रमथा ऊचुः

मैथुनेन सदोच्छिष्टाः कृते चैवाधरोत्तरे।
मोहान्मांसानि खादेत वृक्षमूले च यः स्वपेत्॥ ४॥
आमिषं शीर्षतो यस्य पादतो यश्च संविशेत्।
तत उच्छिष्टकाः सर्वे बहुच्छिद्राश्च मानवाः॥ ५॥
उदके चाप्यमेध्यानि श्लेष्माणं च प्रमुञ्चति।
एते भक्ष्याश्च वध्याश्च मानुषा नात्र संशयः॥ ६॥

प्रमथ बोले—जो मनुष्य सदा स्त्री-सहवासके कारण दूषित रहते, बड़ोंका अपमान करते, मूर्खतावश मांस खाते, वृक्षकी जड़में सोते, सिरपर मांसका बोझा ढोते, बिछौनोंपर पैर रखनेकी जगह सिर रखकर सोते, वे सब-के-सब मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) तथा बहुत-से छिद्रोंवाले माने गये हैं। जो पानीमें मल-मूत्र एवं थूक फेकते हैं, वे भी उच्छिष्टकी ही कोटिमें आते हैं। ये सभी मानव हमारी दृष्टिमें भक्षण और वधके योग्य हैं। इसमें संशय नहीं है॥ ४—६॥

एवंशीलसमाचारान् धर्षयामो हि मानवान्।
श्रूयतां च प्रतीघातान् यैर्न शक्नुम हिंसितुम्॥ ७॥

जिनके ऐसे शील और आचार हैं, उन मनुष्योंको हम धर दबाते हैं। अब उन प्रतिरोधक उपायोंको सुनिये, जिनके कारण हम मनुष्योंकी हिंसा नहीं कर पाते॥ ७॥

गोरोचनासमालम्भो वचाहस्तश्च यो भवेत्।
घृताक्षतं च यो दद्यान्मस्तके तत्परायणः॥ ८॥
ये च मांसं न खादन्ति तान् न शक्नुम हिंसितुम्।

जो अपने शरीरमें गोरोचन लगाता, हाथमें वच नामक औषध लिये रहता, ललाटमें घी और अक्षत धारण करता तथा मांस नहीं खाता—ऐसे मनुष्योंकी हिंसा हम नहीं कर सकते॥ ८½॥

यस्य चाग्निर्गृहे नित्यं दिवारात्रौ च दीप्यते॥ ९॥
तरक्षोश्चर्म दंष्ट्राश्च तथैव गिरिकच्छपः।
आज्यधूमो बिडालश्चच्छागः कृष्णोऽथ पिङ्गलः॥ १०॥
येषामेतानि तिष्ठन्ति गृहेषु गृहमेधिनाम्।
तान्यधृष्याण्यगाराणि पिशिताशैः सुदारुणैः॥ ११॥

जिसके घरमें अग्निहोत्रकी अग्नि नित्य—दिन-रात देदीप्यमान रहती है, छोटे जातिके बाघ (जरख) का चर्म, उसीकी दाढ़ें तथा पहाड़ी कछुआ मौजूद रहता है, घीकी आहुतिसे सुगन्धित धूम निकलता रहता है, बिलाव तथा काला या पीला बकरा रहता है, जिन गृहस्थोंके घरोंमें ये सभी वस्तुएँ स्थित होती हैं, उन घरोंपर भयंकर मांसभक्षी निशाचर आक्रमण नहीं करते हैं॥ ९—११॥

लोकानस्मद्विधा ये च विचरन्ति यथासुखम्।
तस्मादेतानि गेहेषु रक्षोघ्नानि विशाम्पते।
एतद् वः कथितं सर्वं यत्र वः संशयो महान्॥ १२॥

हमारे-जैसे जो भी निशाचर अपनी मौजसे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हैं, वे उपर्युक्त घरोंको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते; अतः प्रजानाथ! अपने घरोंमें इन रक्षोघ्न वस्तुओंको अवश्य रखना चाहिये। यह सब विषय, जिसमें आपलोगोंको महान् संदेह था, मैंने कह सुनाया॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रमथरहस्ये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रमथगणोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३१॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्य एवं प्रभाव

भीष्म उवाच

ततः पद्मप्रतीकाशः पद्मोद्भूतः पितामहः।
उवाच वचनं देवान् वासवं च शचीपतिम्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कमलके समान कान्तिमान् कमलोद्भव ब्रह्माजीने देवताओं तथा शचीपति इन्द्रसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

अयं महाबलो नागो रसातलचरो बली।
तेजस्वी रेणुको नाम महासत्त्वपराक्रमः॥ २॥
अतितेजस्विनः सर्वे महावीर्या महागजाः।
धारयन्ति महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्॥ ३॥

'यह रसातलमें विचरनेवाला, महाबली, शक्तिशाली, महान् सत्त्व और पराक्रमसे युक्त तेजस्वी रेणुक नामवाला नाग यहाँ उपस्थित है। सब-के-सब महान् गजराज (दिग्गज) अत्यन्त तेजस्वी और महापराक्रमी होते हैं। वे पर्वत, वन और काननोंसहित समूची पृथ्वीको धारण करते हैं॥ २-३॥

भवद्भिः समनुज्ञातो रेणुकस्तान् महागजान्।
धर्मगुह्यानि सर्वाणि गत्वा पृच्छतु तत्र वै॥ ४॥

'यदि आपलोग आज्ञा दें तो रेणुक उन महान् गजोंके पास जाकर धर्मके समस्त गोपनीय रहस्योंको पूछे'॥

पितामहवचः श्रुत्वा ते देवा रेणुकं तदा।
प्रेषयामासुरव्यग्रा यत्र ते धरणीधराः॥ ५॥

पितामह ब्रह्माजीकी बात सुनकर शान्त चित्तवाले देवताओंने उस समय रेणुकको उस स्थानपर भेजा, जहाँ पृथ्वीको धारण करनेवाले वे दिग्गज मौजूद थे॥ ५॥

रेणुक उवाच

अनुज्ञातोऽस्मि देवैश्च पितृभिश्च महाबलाः।
धर्मगुह्यानि युष्माकं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
कथयध्वं महाभागा यद् वस्तत्त्वं मनीषितम्॥ ६॥

रेणुकने कहा—महाबली दिग्गजो! मुझे देवताओं और पितरोंने आज्ञा दी है, इसलिये यहाँ आया हूँ और आपलोगोंके जो धर्मविषयक गूढ़ विचार हैं, उन्हें मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। महाभाग दिग्गजो! आपकी बुद्धिमें जो धर्मका तत्त्व निहित हो, उसे कहिये॥ ६॥

दिग्गजा ऊचुः

कार्तिके मासि चाश्लेषा बहुलस्याष्टमी शिवा।
तेन नक्षत्रयोगेन यो ददाति गुडौदनम्॥ ७॥
इमं मन्त्रं जपन् श्राद्धे यताहारो ह्यकोपनः।

दिग्गजोंने कहा—कार्तिक मासके कृष्णपक्षमें आश्लेषा नक्षत्र और मंगलमयी अष्टमी तिथिका योग होनेपर जो मनुष्य आहार-संयमपूर्वक क्रोधशून्य हो निम्नांकित मन्त्रका पाठ करते हुए श्राद्धके अवसरपर हमारे लिये गुड़मिश्रित भात देता है (वह महान् फलका भागी होता है)॥

बलदेवप्रभृतयो ये नागा बलवत्तराः॥ ८॥
अनन्ता ह्यक्षया नित्यं भोगिनः सुमहाबलाः।
तेषां कुलोद्भवा ये च महाभूता भुजङ्गमाः॥ ९॥
ते मे बलिं प्रतीच्छन्तु बलतेजोऽभिवृद्धये।
यदा नारायणः श्रीमानुज्जहार वसुंधराम्॥ १०॥
तद् बलं तस्य देवस्य धरामुद्धरतस्तथा।

'बलदेव (शेष या अनन्त) आदि जो अत्यन्त बलशाली नाग हैं, वे अनन्त, अक्षय, नित्य फनधारी और महाबली हैं। वे तथा उनके कुलमें उत्पन्न हुए जो अन्य विशाल भुजंगम हों, वे भी मेरे तेज और बलकी वृद्धिके लिये मेरी दी हुई इस बलिको ग्रहण करें। जब श्रीमान् भगवान् नारायणने इस पृथ्वीका एकार्णवके जलसे उद्धार किया था, उस समय इस वसुन्धराका उद्धार करते हुए उन भगवान्के श्रीविग्रहमें जो बल था, वह मुझे प्राप्त हो'॥ ८—१०½॥

एवमुक्त्वा बलिं तत्र वल्मीके तु निवेदयेत्॥ ११॥
गजेन्द्रकुसुमाकीर्णं नीलवस्त्रानुलेपनम्।
निर्वपेत् तं तु वल्मीके अस्तं याते दिवाकरे॥ १२॥

इस प्रकार कहकर किसी बाँबीपर बलि निवेदन करे। उसपर नागकेसर बिखेर दे, चन्दन चढ़ा दे और उसे नीले कपड़ेसे ढक दे तथा सूर्यास्त होनेपर उस बलिको बाँबीके पास रख दे॥ ११-१२॥

एवं तुष्टास्ततः सर्वे अधस्ताद्भारपीडिताः।
श्रमं तं नावबुध्यामो धारयन्तो वसुंधराम्॥ १३॥
एवं मन्यामहे सर्वे भारार्ता निरपेक्षिणः।

इस प्रकार संतुष्ट होकर पृथ्वीके नीचे भारसे पीड़ित होनेपर भी हम सब लोगोंको वह परिश्रम प्रतीत नहीं होता है और हमलोग सुखपूर्वक वसुधाका भार वहन करते हैं। भारसे पीड़ित होनेपर भी किसीसे कुछ न चाहनेवाले हम सब लोग ऐसा ही मानते हैं॥ १३½॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यद्युपोषितः॥ १४॥

एवं संवत्सरं कृत्वा दानं बहुफलं लभेत्।
वल्मीके बलिमादाय तन्नो बहुफलं मतम्॥ १५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र यदि उपवासपूर्वक एक वर्षतक इस प्रकार हमारे लिये बलिदान करे तो उसका महान् फल होता है। बाँबीके निकट बलि अर्पित करनेपर वह हमारे लिये अधिक फल देनेवाला माना गया है॥

ये च नागा महावीर्यास्त्रिषु लोकेषु कृत्स्नशः।
कृतातिथ्या भवेयुस्ते शतं वर्षाणि तत्त्वतः॥ १६॥

तीनों लोकोंमें जो समस्त महापराक्रमी नाग हैं, वे इस बलिदानसे सौ वर्षोंके लिये यथार्थरूपसे सत्कृत हो जाते हैं॥ १६॥

दिग्गजानां च तच्छ्रुत्वा देवताः पितरस्तथा।
ऋषयश्च महाभागाः पूजयन्ति स्म रेणुकम्॥ १७॥

दिग्गजोंके मुखसे यह बात सुनकर महाभाग देवता, पितर और ऋषि रेणुक नागकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि दिग्गजानां रहस्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें दिग्गजोंका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३२॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्य

महेश्वर उवाच

सारमुद्धृत्य युष्माभिः साधुधर्म उदाहृतः।
धर्मगुह्यमिदं मत्तः शृणुध्वं सर्व एव ह॥ १॥

(ऋषि, मुनि, देवता और पितरोंसे) महेश्वर बोले—तुमलोगोंने धर्मशास्त्रका सार निकालकर उत्तम धर्मका वर्णन किया है। अब सब लोग मुझसे धर्म-सम्बन्धी इस गूढ़ रहस्यका वर्णन सुनो॥ १॥

येषां धर्माश्रिता बुद्धिः श्रद्दधानाश्च ये नराः।
तेषां स्यादुपदेष्टव्यः सरहस्यो महाफलः॥ २॥

जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है और जो मनुष्य परम श्रद्धालु हैं, उन्हींको इस महान् फलदायक रहस्ययुक्त धर्मका उपदेश देना चाहिये॥ २॥

निरुद्विग्नस्तु यो दद्यान्मासमेकं गवाह्निकम्।
एकभक्तं तथाश्नीयाच्छ्रयतां तस्य यत् फलम्॥ ३॥

जो उद्वेगरहित होकर एक मासतक प्रतिदिन गौको भोजन देता है और स्वयं एक ही समय खाता है, उसे जो फल मिलता है, उसका वर्णन सुनो॥ ३॥

इमा गावो महाभागाः पवित्रं परमं स्मृताः।
त्रीँल्लोकान् धारयन्ति स्म सदेवासुरमानुषान्॥ ४॥

ये गौएँ परम सौभाग्यशालिनी और अत्यन्त पवित्र मानी गयी हैं। ये देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोकोंको धारण करती हैं॥ ४॥

तासु चैव महापुण्यं शुश्रूषा च महाफलम्।
अहन्यहनि धर्मेण युज्यते वै गवाह्निकः॥ ५॥

इनकी सेवा करनेसे बहुत बड़ा पुण्य और महान् फल प्राप्त होता है। प्रतिदिन गौओंको भोजन देनेवाला मनुष्य नित्य महान् धर्मका उपार्जन करता है॥ ५॥

मया ह्येता ह्यनुज्ञाताः पूर्वमासन् कृते युगे।
ततोऽहमनुनीतो वै ब्रह्मणा पद्मयोनिना॥ ६॥

मैंने पहले सत्ययुगमें गौओंको अपने पास रहनेकी आज्ञा दी थी। पद्मयोनि ब्रह्माजीने इसके लिये मुझसे बहुत अनुनय-विनय की थी॥ ६॥

तस्माद् व्रजस्थानगतस्तिष्ठत्युपरि मे वृषः।
रमेऽहं सह गोभिश्च तस्मात् पूज्याः सदैव ताः॥ ७॥

इसलिये मेरी गौओंके झुंडमें रहनेवाला वृषभ मुझसे ऊपर मेरे रथकी ध्वजामें विद्यमान है। मैं सदा गौओंके साथ रहनेमें ही आनन्दका अनुभव करता हूँ। अतः उन गौओंकी सदा ही पूजा करनी चाहिये॥ ७॥

महाप्रभावा वरदा वरं दद्युरुपासिताः।
ता गावोऽस्यानुमन्यन्ते सर्वकर्मसु यत् फलम्॥ ८॥
तस्य तत्र चतुर्भागो यो ददाति गवाह्निकम्॥ ९॥

गौओंका प्रभाव बहुत बड़ा है। वे वरदायिनी हैं। इसलिये उपासना करनेपर अभीष्ट वर देती हैं। उसे सम्पूर्ण कर्मोंमें जो फल अभीष्ट होता है। उसके लिये

वे गौएँ अनुमोदन करती—उसकी सिद्धिके लिये वरदान देती हैं। जो पूर्वोक्तरूपसे गौको नित्य भोजन देता है, उसे सदाकी जानेवाली गोसेवाके फलका एक चौथाई पुण्य प्राप्त होता है॥ ८-९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि महादेवरहस्ये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें महादेवजीका धर्मसम्बन्धी रहस्यविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३३॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्कन्ददेवका धर्मसम्बन्धी रहस्य तथा भगवान् विष्णु और भीष्मजीके द्वारा माहात्म्यका वर्णन

स्कन्द उवाच

ममाप्यनुमतो धर्मस्तं शृणुध्वं समाहिताः।
नीलषण्डस्य शृंगाभ्यां गृहीत्वा मृत्तिकां तु यः॥ १॥
अभिषेकं त्र्यहं कुर्यात् तस्य धर्मं निबोधत।

स्कन्दने कहा—देवताओ! अब एकाग्रचित्त होकर मेरी मान्यताके अनुसार भी धर्मका गोपनीय रहस्य सुनो। जो मनुष्य नीले रंगके साँड़की सींगोंमें लगी हुई मिट्टी लेकर इससे तीन दिनोंतक स्नान करता है, उसे प्राप्त होनेवाले पुण्यका वर्णन सुनो॥ १½॥

शोधयेदशुभं सर्वमाधिपत्यं परत्र च॥ २॥
यावच्च जायते मर्त्यस्तावच्छूरो भविष्यति।

वह अपने सारे पापोंको धो डालता है और परलोकमें आधिपत्य प्राप्त करता है। फिर जब वह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है, तब शूरवीर होता है॥ २½॥

इदं चाप्यपरं गुह्यं सरहस्यं निबोधत॥ ३॥
प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं पक्वान्नं मधुना सह।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य पौर्णमास्यां बलिं हरेत्॥ ४॥
तस्य धर्मफलं नित्यं श्रद्दधाना निबोधत।
साध्या रुद्रास्तथादित्या विश्वेदेवास्तथाश्विनौ॥ ५॥
मरुतो वसवश्चैव प्रतिगृह्णन्ति तं बलिम्।
सोमश्च वर्धते तेन समुद्रश्च महोदधिः॥ ६॥
एष धर्मो मयोद्दिष्टः सरहस्यः सुखावहः॥ ७॥

अब धर्मका यह दूसरा गुप्त रहस्य सुनो। पूर्णमासी तिथिको चन्द्रोदयके समय ताँबेके बर्तनमें मधु मिलाया हुआ पकवान लेकर जो चन्द्रमाके लिये बलि अर्पण करता है, उसे जिस नित्य धर्म-फलकी प्राप्ति होती है, उसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। उस पुरुषकी दी हुई उस बलिको साध्य, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण और वसुदेवता भी ग्रहण करते हैं तथा उससे चन्द्रमा और समुद्रकी वृद्धि होती है। इस प्रकार मैंने रहस्यसहित सुखदायक धर्मका वर्णन किया है॥ ३—७॥

विष्णुरुवाच

धर्मगुह्यानि सर्वाणि देवतानां महात्मनाम्।
ऋषीणां चैव गुह्यानि यः पठेदाह्निकं सदा॥ ८॥
शृणुयाद् वानसूयुर्यः श्रद्दधानः समाहितः।
नास्य विघ्नः प्रभवति भयं चास्य न विद्यते॥ ९॥

भगवान् विष्णु बोले—जो देवताओं तथा महात्मा

ऋषियोंके बताये हुए धर्मसम्बन्धी इन सभी गूढ़ रहस्योंका प्रतिदिन पाठ करेगा अथवा दोषदृष्टिसे रहित हो सदा एकाग्रचित्त रहकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करेगा, उसपर किसी विघ्नका प्रभाव नहीं पड़ेगा तथा उसे कोई भय भी नहीं प्राप्त होगा॥ ८-९॥

ये च धर्माः शुभाः पुण्याः सरहस्या उदाहृताः।
तेषां धर्मफलं तस्य यः पठेत जितेन्द्रियः॥ १०॥

यहाँ जिन-जिन पवित्र एवं कल्याणकारी धर्मोंका रहस्योंसहित वर्णन किया गया है, उन सबका जो इन्द्रियसंयमपूर्वक पाठ करेगा, उसे उन धर्मोंका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा॥ १०॥

नास्य पापं प्रभवति न च पापेन लिप्यते।
पठेद् वा श्रावयेद् वापि श्रुत्वा वा लभते फलम्॥ ११॥
भुञ्जते पितरो देवा हव्यं कव्यमथाक्षयम्।

उसके ऊपर कभी पापका प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होगा। जो इस प्रसंगको पढ़ेगा, दूसरोंको सुनायेगा अथवा स्वयं सुनेगा, उसे भी उन धर्मोंके आचरणका फल मिलेगा। उसका दिया हुआ हव्य-कव्य अक्षय होगा तथा उसे देवता और पितर बड़ी प्रसन्नतासे ग्रहण करेंगे॥ ११½॥

श्रावयंश्चापि विप्रेन्द्रान् पर्वसु प्रयतो नरः॥ १२॥
ऋषीणां देवतानां च पितॄणां चैव नित्यदा।
भवत्यभिमतः श्रीमान् धर्मेषु प्रयतः सदा॥ १३॥

जो मनुष्य पर्वके दिन शुद्धचित्त होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धर्मके इन रहस्योंका श्रवण करायेगा, वह सदा देवता, ऋषि और पितरोंके आदरका पात्र एवं श्रीसम्पन्न होगा। उसकी सदा धर्मोंमें प्रवृत्ति बनी रहेगी॥ १२-१३॥

कृत्वापि पापकं कर्म महापातकवर्जितम्।
रहस्यधर्मं श्रुत्वेमं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १४॥

मनुष्य महापातकको छोड़कर अन्य पापोंका आचरण करके भी यदि इस रहस्य-धर्मको सुन लेगा तो उन सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ १४॥

भीष्म उवाच

एतद् धर्मरहस्यं वै देवतानां नराधिप।
व्यासोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सर्वदेवनमस्कृतम्॥ १५॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! देवताओंके बताये हुए इस धर्मरहस्यको व्यासजीने मुझसे कहा था। उसीको मैंने तुम्हें बताया है। यह सब देवताओंद्वारा समादृत है॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा ज्ञानं चेदमनुत्तमम्।
इदमेव ततः श्राव्यमिति मन्येत धर्मवित्॥ १६॥

एक ओर रत्नोंसे भरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त होती हो और दूसरी ओर यह सर्वोत्तम ज्ञान मिल रहा हो तो उस पृथ्वीको छोड़कर इस सर्वोत्तम ज्ञानको ही श्रवण एवं ग्रहण करना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही माने॥

नाश्रद्दधानाय न नास्तिकाय
न नष्टधर्माय न निर्घृणाय।
न हेतुदुष्टाय गुरुद्विषे वा
नानात्मभूताय निवेद्यमेतत्॥ १७॥

न श्रद्धाहीनको, न नास्तिकको, न धर्म नष्ट करनेवालेको, न निर्दयीको, न युक्तिवादका सहारा लेकर दुष्टता करनेवालेको, न गुरुद्रोहीको और न देहाभिमानी व्यक्तिको ही इस धर्मका उपदेश देना चाहिये॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि स्कन्ददेवरहस्ये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें स्कन्ददेवका रहस्यविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३४॥

~~O~~

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

जिनका अन्न ग्रहण करने योग्य है और जिनका ग्रहण करने योग्य नहीं है, उन मनुष्योंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

के भोज्या ब्राह्मणस्येह के भोज्याः क्षत्रियस्य ह।
तथा वैश्यस्य के भोज्याः के शूद्रस्य च भारत॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! इस जगत्में ब्राह्मणको किनके यहाँ भोजन करना चाहिये, क्षत्रियको किनके घरका अन्न ग्रहण करना चाहिये तथा वैश्य और शूद्रको किन-किन लोगोंके घर भोजन करना चाहिये?॥ १॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणा ब्राह्मणस्येह भोज्या ये चैव क्षत्रियाः।
वैश्याश्चापि तथा भोज्याः शूद्राश्च परिवर्जिताः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! इस लोकमें ब्राह्मणको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर भोजन करना चाहिये। शूद्रके घर भोजन करना उसके लिये निषिद्ध है॥ २॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या भोज्या वै क्षत्रियस्य ह।
वर्जनीयास्तु वै शूद्राः सर्वभक्षा विकर्मिणः॥ ३॥

इसी प्रकार क्षत्रियको ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यके घर ही भोजन ग्रहण करना चाहिये। भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार न करके सब कुछ खानेवाले और शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्रोंका अन्न उसके लिये भी त्याज्य है॥ ३॥

वैश्यास्तु भोज्या विप्राणां क्षत्रियाणां तथैव च।
नित्याग्नयो विविक्ताश्च चातुर्मास्यरताश्च ये॥ ४॥

वैश्योंमें भी जो नित्य अग्निहोत्र करनेवाले, पवित्रतासे रहनेवाले और चातुर्मास्य-व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन्हींका अन्न ब्राह्मण और क्षत्रियोंके लिये ग्राह्य है॥ ४॥

शूद्राणामथ यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम्।
मलं नृणां स पिबति मलं भुङ्क्ते जनस्य च॥ ५॥

जो द्विज शूद्रोंके घरका अन्न खाता है, वह समस्त पृथ्वी और सम्पूर्ण मनुष्योंके मलका ही पान और भक्षण करता है॥ ५॥

शूद्राणां यस्तथा भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम्।
पृथिवीमलमश्नन्ति ये द्विजाः शूद्रभोजिनः॥ ६॥

जो शूद्रोंका अन्न खाता है, वह पृथ्वीका मल खाता है। शूद्रान्न भोजन करनेवाले सभी द्विज पृथ्वीका मल ही खाते हैं॥ ६॥

शूद्रस्य कर्मनिष्ठायां विकर्मस्थोऽपि पच्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो विकर्मस्थश्च पच्यते॥ ७॥

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रके कर्मोंमें संलग्न रहनेवाला हो, वह यदि विशिष्ट कर्म—संध्या-वन्दन आदिमें संलग्न रहनेवाला हो, तो भी नरकमें पकाया जाता है। यदि शूद्रके कर्म न करके भी वह शास्त्रविरुद्ध कर्ममें संलग्न रहता हो तो भी उसे नरककी यातना भोगनी पड़ती है॥ ७॥

स्वाध्यायनिरता विप्रास्तथा स्वस्त्ययने नृणाम्।
रक्षणे क्षत्रियं प्राहुर्वैश्यं पुष्ट्यर्थमेव च॥ ८॥

ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और मनुष्योंके लिये मंगलकारी कार्यमें लगे रहनेवाले होते हैं। क्षत्रियको सबकी रक्षामें तत्पर बताया गया है और वैश्यको प्रजाकी पुष्टिके लिये कृषि, गोरक्षा आदि कार्य करने चाहिये॥ ८॥

करोति कर्म यद् वैश्यस्तद् गत्वा ह्युपजीवति।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमकुत्सा वैश्यकर्मणि॥ ९॥

वैश्य जो कर्म करता है, उसका आश्रय लेकर सब लोग जीविका चलाते हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य—ये वैश्यके अपने कर्म हैं। इससे उसको घृणा नहीं होनी चाहिये॥ ९॥

शूद्रकर्म तु यः कुर्यादवहाय स्वकर्म च।
स विज्ञेयो यथा शूद्रो न च भोज्यः कदाचन॥ १०॥

जो वैश्य अपना कर्म छोड़कर शूद्रका कर्म करता है, उसे शूद्रके समान ही जानना चाहिये और उसके यहाँ कभी भोजन नहीं करना चाहिये॥ १०॥

चिकित्सकः काण्डपृष्ठः पुराध्यक्षः पुरोहितः।
सांवत्सरो वृथाध्यायी सर्वे ते शूद्रसम्मिताः॥ ११॥

जो चिकित्सा करनेवाला, शास्त्र बेचकर जीविका चलानेवाला, ग्रामाध्यक्ष, पुरोहित, वर्षफल बतानेवाला ज्योतिषी और वेद-शास्त्रसे भिन्न व्यर्थकी पुस्तकें पढ़नेवाला है, वे सबके सब ब्राह्मण शूद्रके समान हैं॥ ११॥

शूद्रकर्मस्वथैतेषु यो भुङ्क्ते निरपत्रपः।
अभोज्यभोजनं भुक्त्वा भयं प्राप्नोति दारुणम्॥ १२॥

जो निर्लज्ज मनुष्य शूद्रोचित कर्म करनेवाले इन द्विजोंके घर भोजन करता है, वह अभक्ष्य-भक्षणका पाप करके दारुण भयको प्राप्त होता है॥ १२॥

कुलं वीर्यं च तेजश्च तिर्यग्योनित्वमेव च।
स प्रयाति यथा श्वा वै निष्क्रियो धर्मवर्जितः॥ १३॥

उसके कुल, वीर्य और तेज नष्ट हो जाते हैं तथा वह धर्म-कर्मसे हीन होकर कुत्तेकी भाँति तिर्यक्-योनिमें पड़ जाता है॥ १३॥

भुङ्क्ते चिकित्सकस्यान्नं तदन्नं च पुरीषवत्।
पुंश्चल्यन्नं च मूत्रं स्यात् कारुकान्नं च शोणितम्॥ १४॥

जो चिकित्सा करनेवाले वैद्यका अन्न खाता है, उसका वह अन्न विष्ठाके समान है। व्यभिचारिणी स्त्री या वेश्याका अन्न मूत्रके समान है। कारीगरका अन्न रक्तके तुल्य है॥ १४॥

विद्योपजीविनोऽन्नं च यो भुङ्क्ते साधुसम्मतः।
तदप्यन्नं यथा शौद्रं तत् साधुः परिवर्जयेत्॥ १५॥

जो साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित पुरुष विद्या बेचकर जीविका चलानेवाले ब्राह्मणका अन्न खाता है, उसका वह अन्न भी शूद्रान्नके ही समान है। अतः साधु पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये॥ १५॥

वचनीयस्य यो भुङ्क्ते तमाहुः शोणितं ह्रदम्।
पिशुनं भोजनं भुङ्क्ते ब्रह्महत्यासमं विदुः॥ १६॥
असत्कृतमवज्ञातं न भोक्तव्यं कदाचन॥ १७॥

जो कलंकित मनुष्यका अन्न ग्रहण करता है, उसे रक्तका कुण्ड कहते हैं। जो चुगुलखोरके यहाँ भोजन

करता है, उसका वह भोजन करना ब्रह्महत्याके समान माना गया है। असत्कार और अवहेलनापूर्वक मिले हुए भोजनको कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये॥ १६-१७॥

व्याधिं कुलक्षयं चैव क्षिप्रं प्राप्नोति ब्राह्मणः।
नगरीरक्षिणो भुङ्क्ते श्वपचप्रवणो भवेत्॥ १८॥

जो ब्राह्मण ऐसे अन्नको भोजन करता है, वह रोगी होता है और शीघ्र ही उसके कुलका संहार हो जाता है। जो नगररक्षकका अन्न खाता है, वह चण्डालके समान होता है॥ १८॥

गोघ्ने च ब्राह्मणघ्ने च सुरापे गुरुतल्पगे।
भुक्त्वान्नं जायते विप्रो रक्षसां कुलवर्धनः॥ १९॥

गोवध, ब्राह्मणवध, सुरापान और गुरुपत्नीगमन करनेवाले मनुष्यके यहाँ भोजन कर लेनेपर ब्राह्मण राक्षसोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होता है॥ १९॥

न्यासापहारिणो भुक्त्वा कृतघ्ने क्लीबवर्तिनि।
जायते शबरावासे मध्यदेशबहिष्कृते॥ २०॥

धरोहर हड़पनेवाले, कृतघ्न तथा नपुंसकका अन्न खा लेनेसे मनुष्य मध्यदेशबहिष्कृत भीलोंके घरमें जन्म लेता है॥ २०॥

अभोज्याश्चैव भोज्याश्च मया प्रोक्ता यथाविधि।
किमन्यदद्य कौन्तेय मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! जिनके यहाँ खाना चाहिये और जिनके यहाँ नहीं खाना चाहिये, ऐसे लोगोंका मैंने विधिवत् परिचय दे दिया। अब मुझसे और क्या सुनना चाहते हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि भोज्याभोज्यान्नकथनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें भोज्याभोज्यान्नकथन नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३५॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दान लेने और अनुचित भोजन करनेका प्रायश्चित्त

युधिष्ठिर उवाच

उक्तास्तु भवता भोज्यास्तथाभोज्याश्च सर्वशः।
अत्र मे प्रश्नसंदेहस्तन्मे वद पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने भोज्यान्न और अभोज्यान्न सभी तरहके मनुष्योंका वर्णन किया; किंतु इस विषयमें मुझे पूछनेयोग्य एक संदेह उत्पन्न हो गया। उसका मेरे लिये समाधान कीजिये॥ १॥

ब्राह्मणानां विशेषेण हव्यकव्यप्रतिग्रहे।
नानाविधेषु भोज्येषु प्रायश्चित्तानि शंस मे॥ २॥

प्रायः ब्राह्मणोंको ही हव्य और कव्यका प्रतिग्रह लेना पड़ता है और उन्हें ही नाना प्रकारके अन्न ग्रहण करनेका अवसर आता है। ऐसी दशामें उन्हें पाप लगते हैं, उनका क्या प्रायश्चित्त है? यह मुझे बतावें॥ २॥

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते राजन् ब्राह्मणानां महात्मनाम्।
प्रतिग्रहेषु भोज्ये च मुच्यते येन पाप्मनः॥ ३॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! महात्मा ब्राह्मणोंको प्रतिग्रह लेने और भोजन करनेके पापसे जिस प्रकार छुटकारा मिलता है, वह प्रायश्चित्त मैं बता रहा हूँ, सुनो॥ ३॥

घृतप्रतिग्रहे चैव सावित्री समिदाहुतिः।
तिलप्रतिग्रहे चैव सममेतद् युधिष्ठिर॥ ४॥

युधिष्ठिर! ब्राह्मण यदि घीका दान ले तो गायत्री-मन्त्र पढ़कर अग्निमें समिधाकी आहुति दे। तिलका दान लेनेपर भी यही प्रायश्चित्त करना चाहिये। ये दोनों कार्य समान हैं॥ ४॥

मांसप्रतिग्रहे चैव मधुनो लवणस्य च।
आदित्योदयनं स्थित्वा पूतो भवति ब्राह्मणः॥ ५॥

फलका गुद्दा, मधु और नमकका दान लेनेपर उस समयसे लेकर सूर्योदयतक खड़े रहनेसे ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है॥ ५॥

काञ्चनं प्रतिगृह्याथ जपमानो गुरुश्रुतिम्।
कृष्णायसं च विवृतं धारयन् मुच्यते द्विजः॥ ६॥

सुवर्णका दान लेकर गायत्री-मन्त्रका जप करने और खुले तौरपर काले लोहेका दंड धारण करनेसे ब्राह्मण उसके दोषसे छुटकारा पाता है॥ ६॥

एवं प्रतिगृहीतेऽथ धने वस्त्रे तथा स्त्रियाम्।
एवमेव नरश्रेष्ठ सुवर्णस्य प्रतिग्रहे॥ ७॥
अन्नप्रतिग्रहे चैव पायसेक्षुरसे तथा।

नरश्रेष्ठ! इसी प्रकार धन, वस्त्र, कन्या, अन्न,

खीर और ईखके रसका दान ग्रहण करनेपर भी सुवर्ण-दानके समान ही प्रायश्चित्त करे॥ ७½ ॥

इक्षुतैलपवित्राणां त्रिसंध्येऽप्सु निमज्जनम्॥ ८॥
व्रीहौ पुष्पे फले चैव जले पिष्टमये तथा।
यावके दधिदुग्धे च सावित्रीं शतशोऽन्विताम्॥ ९॥

गन्ना, तेल और कुशोंका प्रतिग्रह स्वीकार करनेपर त्रिकाल स्नान करना चाहिये। धान, फूल, फल, जल, पूआ, जौकी लपसी और दही-दूधका दान लेनेपर सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये॥ ८-९॥

उपानहौ च च्छत्रं च प्रतिगृह्यौर्ध्वदेहिके।
जपेच्छतं समायुक्तस्तेन मुच्येत पाप्मना॥ १०॥

श्राद्धमें जूता और छाता ग्रहण करनेपर एकाग्रचित्त हो यदि सौ बार गायत्री-मन्त्रका जप करे तो उस प्रतिग्रहके दोषसे छुटकारा मिल जाता है॥ १०॥

क्षेत्रप्रतिग्रहे चैव ग्रहसूतकयोस्तथा।
त्रीणि रात्राण्युपोषित्वा तेन पापाद् विमुच्यते॥ ११॥

*ग्रहणके समय अथवा अशौचमें किसीके दिये हुए खेतका दान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे उसके दोषसे छुटकारा मिलता है॥ ११॥

कृष्णपक्षे तु यः श्राद्धं पितॄणामश्नुते द्विजः।
अन्नमेतदहोरात्रात् पूतो भवति ब्राह्मणः॥ १२॥

जो द्विज कृष्णपक्षमें किये हुए पितृश्राद्धका अन्न भोजन करता है, वह एक दिन और एक रात बीत जानेपर शुद्ध होता है॥ १२॥

न च संध्यामुपासीत न च जाप्यं प्रवर्तयेत्।
न संकिरेत् तदन्नं च ततः पूयेत ब्राह्मणः॥ १३॥

ब्राह्मण जिस दिन श्राद्धका अन्न भोजन करे, उस दिन संध्या, गायत्री-जप और दुबारा भोजन त्याग दे। इससे उसकी शुद्धि होती है॥ १३॥

इत्यर्थमपराह्णे तु पितॄणां श्राद्धमुच्यते।
यथोक्तानां यदश्नीयुर्ब्राह्मणाः पूर्वकीर्तिताः॥ १४॥

इसीलिये अपराह्णकालमें पितरोंके श्राद्धका विधान किया गया है। (जिससे सबेरेकी संध्योपासना हो जाय और शामको पुनर्भोजनकी आवश्यकता ही न पड़े) ब्राह्मणोंको एक दिन पहले श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहिये। जिससे वे पूर्वोक्त प्रकारसे विशुद्ध पुरुषोंके यहाँ यथावत् रूपसे भोजन कर सकें॥ १४॥

मृतकस्य तृतीयाहे ब्राह्मणो योऽन्नमश्नुते।
स त्रिवेलं समुन्मज्ज्य द्वादशाहेन शुध्यति॥ १५॥

जिसके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, उसके यहाँ मरणाशौचके तीसरे दिन अन्न ग्रहण करनेवाला ब्राह्मण बारह दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है॥

द्वादशाहे व्यतीते तु कृतशौचो विशेषतः।
ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्त्वा मुच्यते तेन पाप्मना॥ १६॥

बारह दिनोंतक स्नानका नियम पूर्ण हो जानेपर तेरहवें दिन वह विशेषरूपसे स्नान आदिके द्वारा पवित्र हो ब्राह्मणोंको हविष्य भोजन करावे। तब उस पापसे मुक्त हो सकता है॥ १६॥

मृतस्य दशरात्रेण प्रायश्चित्तानि दापयेत्।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम्॥ १७॥

जो मनुष्य किसीके यहाँ मरणाशौचमें दस दिनतक अन्न खाता है, उसे गायत्री-मन्त्र, रैवत शाम, पवित्रेष्टि कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षणका जप करके उस दोषका प्रायश्चित्त करना चाहिये॥ १७॥

मृतकस्य त्रिरात्रे यः समुद्दिष्टे समश्नुते।
सप्त त्रिषवणं स्नात्वा पूतो भवति ब्राह्मणः॥ १८॥

इसी प्रकार जो मरणाशौचवाले घरमें लगातार तीन रात भोजन करता है, वह ब्राह्मण सात दिनोंतक त्रिकाल स्नान करनेसे शुद्ध होता है॥ १८॥

सिद्धिमाप्नोति विपुलामापदं चैव नाप्नुयात्॥ १९॥

यह प्रायश्चित्त करनेके बाद उसे सिद्धि प्राप्त होती है और वह भारी आपत्तिमें कभी नहीं पड़ता है॥

यस्तु शूद्रैः समश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
अशौचं विधिवत् तस्य शौचमत्र विधीयते॥ २०॥

जो ब्राह्मण शूद्रोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन कर लेता है, वह अशुद्ध हो जाता है। अतः उनकी शुद्धिके लिये शास्त्रीय विधिके अनुसार यहाँ शौचका विधान है॥

यस्तु वैश्यैः सहाश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
स वै त्रिरात्रं दीक्षित्वा मुच्यते तेन कर्मणा॥ २१॥

जो ब्राह्मण वैश्योंके साथ एक पंक्तिमें भोजन करता है, वह तीन राततक व्रत करनेपर उस कर्मदोषसे मुक्त होता है॥ २१॥

क्षत्रियैः सह योऽश्नीयाद् ब्राह्मणोऽप्येकभोजने।
आप्लुतः सह वासोभिस्तेन मुच्येत पाप्मना॥ २२॥

---

* कुछ लोग 'ग्रहसूतकयोः' का अर्थ करते हैं 'कारागारस्थाशौचवतो' इसके अनुसार जो जेलमें रह आया हो तथा जो जनन-मरण-सम्बन्धी अशौचसे युक्त हो ऐसे लोगोंका दिया हुआ क्षेत्रदान स्वीकार करनेपर तीन रात उपवास करनेसे प्रतिग्रह-दोषसे छुटकारा मिलता है।

जो ब्राह्मण क्षत्रियोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन करता है, वह वस्त्रोंसहित स्नान करनेसे पापमुक्त होता है॥ २२॥

शूद्रस्य तु कुलं हन्ति वैश्यस्य पशुबान्धवान्।
क्षत्रियस्य श्रियं हन्ति ब्राह्मणस्य सुवर्चसम्॥ २३॥

ब्राह्मणका तेज उसके साथ भोजन करनेवाले शूद्रके कुलका, वैश्यके पशु और बान्धवोंका तथा क्षत्रियकी सम्पत्तिका नाश कर डालता है॥ २३॥

प्रायश्चित्तं च शान्तिं च जुहुयात् तेन मुच्यते।
सावित्रीं रैवतीमिष्टिं कूष्माण्डमघमर्षणम्॥ २४॥

इसके लिये प्रायश्चित्त और शान्तिहोम करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र, रैवत साम, पवित्रेष्टि, कूष्माण्ड अनुवाक् और अघमर्षण मन्त्रका जप भी आवश्यक है॥

तथोच्छिष्टमथान्योन्यं सम्प्राशेन्नात्र संशयः।
रोचना विरजा रात्रिर्मङ्गलालम्भनानि च॥ २५॥

किसीका जूठा अथवा उसके साथ एक पंक्तिमें भोजन नहीं करना चाहिये। उपर्युक्त प्रायश्चित्तके विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर गोरोचन, दूर्वा और हल्दी आदि मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श करना चाहिये॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि प्रायश्चित्तविधिर्नाम षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें प्रायश्चित्तविधि नामक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३६॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दानसे स्वर्गलोकमें जानेवाले राजाओंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानेन वर्ततेत्याह तपसा चैव भारत।
तदेतन्मे मनोदुःखं व्यपोह त्वं पितामह।
किंस्वित् पृथिव्यां ह्येतन्मे भवान् शंसितुमर्हति॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! पितामह! आप कहते हैं कि दान और तप दोनोंसे ही मनुष्य स्वर्गमें जाता है, परंतु मेरे मनमें संशयजनित दुःख हो रहा है। आप इसका निवारण कीजिये। इस पृथ्वीपर दान और तपमेंसे कौन-सा साधन श्रेष्ठ है, यह बतानेकी कृपा करें॥ १॥

भीष्म उवाच

शृणु यैर्धर्मनिरतैस्तपसा भावितात्मभिः।
लोका ह्यसंशयं प्राप्ता दानपुण्यरतैर्नृपैः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले जिन धर्मात्मा राजाओंने दान-पुण्यमें तत्पर रहकर निःसन्देह बहुत-से उत्तम लोक प्राप्त किये हैं, उनके नाम बता रहा हूँ, सुनो॥ २॥

सत्कृतश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो ब्रह्म निर्गुणम्।
उपदिश्य तदा राजन् गतो लोकाननुत्तमान्॥ ३॥

राजन्! लोकसम्मानित महर्षि आत्रेय अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंमें गये हैं॥ ३॥

शिबिरौशीनरः प्राणान् प्रियस्य तनयस्य च।
ब्राह्मणार्थमुपाकृत्य नाकपृष्ठमितो गतः॥ ४॥

उशीनरकुमार शिवि अपने प्यारे पुत्रके प्राणोंको ब्राह्मणके लिये निछावर करके यहाँसे स्वर्गलोकमें चले गये॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय तनयं स्वकम्।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते॥ ५॥

काशीके राजा प्रतर्दनने अपने प्यारे पुत्रको ब्राह्मणकी सेवामें अर्पित कर दिया, जिसके कारण उन्हें इस लोकमें अनुपम कीर्ति मिली और परलोकमें भी वे अक्षय आनन्दका उपभोग कर रहे हैं॥ ५॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अर्घ्यं प्रदाय विधिवल्लेभे लोकाननुत्तमान्॥ ६॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठ मुनिको विधिवत् अर्घ्यदान किया, जिससे उन्हें श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हुई॥ ६॥

दिव्यं शतशलाकं च यज्ञार्थं काञ्चनं शुभम्।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा ब्राह्मणायास्थितो दिवम्॥ ७॥

देवावृध नामक राजा यज्ञमें सोनेकी सौ तीलियोंवाले सुन्दर दिव्य छत्रका ब्राह्मणको दान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं॥ ७॥

भगवानम्बरीषश्च ब्राह्मणायामितौजसे।
प्रदाय सकलं राष्ट्रं सुरलोकमवाप्तवान्॥ ८॥

ऐश्वर्यशाली राजा अम्बरीष अमित तेजस्वी ब्राह्मणको अपना सारा राज्य सौंपकर देवलोकको प्राप्त हुए॥ ८॥

सावित्रः कुण्डलं दिव्यं यानं च जनमेजयः।
ब्राह्मणाय च गा दत्त्वा गतो लोकाननुत्तमान्॥ ९॥

सूर्यपुत्र कर्ण अपना दिव्य कुण्डल देकर तथा महाराजा जनमेजय ब्राह्मणको सवारी और गौ दान करके उत्तम लोकोंमें गये हैं॥ ९॥

वृषादर्भिश्च राजर्षी रत्नानि विविधानि च।
रम्यांश्चावसथान् दत्त्वा द्विजेभ्यो दिवमागतः॥ १०॥

राजर्षि वृषादर्भिने ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न तथा रमणीय गृह प्रदान करके स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त किया है॥ १०॥

निमी राष्ट्रं च वैदर्भिः कन्यां दत्त्वा महात्मने।
अगस्त्याय गतः स्वर्गं सपुत्रपशुबान्धवः॥ ११॥

विदर्भके पुत्र राजा निमि अगस्त्य मुनिको अपनी कन्या और राज्यका दान करके पुत्र, पशु और बान्धवोंसहित स्वर्गलोकमें चले गये॥ ११॥

जामदग्न्यश्च विप्राय भूमिं दत्त्वा महायशाः।
रामोऽक्षयांस्तथा लोकान् जगाम मनसोऽधिकान्॥ १२॥

महायशस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामजीने ब्राह्मणको भूमिदान करके उन अक्षय लोकोंको प्राप्त किया है, जिन्हें पानेकी मनमें कल्पना भी नहीं हो सकती॥ १२॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि देवराट्।
वसिष्ठो जीवयामास येन यातोऽक्षयां गतिम्॥ १३॥

एक बार संसारमें वर्षा न होनेपर मुनिवर वसिष्ठजीने समस्त प्राणियोंको जीवन दान दिया था, जिससे उन्हें अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हुई॥ १३॥

रामो दाशरथिश्चैव हुत्वा यज्ञेषु वै वसु।
स गतो ह्यक्षयाँल्लोकान् यस्य लोके महद् यशः॥ १४॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यज्ञोंमें प्रचुर धनकी आहुति देकर संसारमें अपने महान् यशकी स्थापना करके अक्षय लोकोंमें चले गये॥ १४॥

कक्षसेनश्च राजर्षिर्वसिष्ठाय महात्मने।
न्यासं यथावत् संन्यस्य जगाम सुमहायशाः॥ १५॥

महायशस्वी राजर्षि कक्षसेन महात्मा वसिष्ठको अपना सर्वस्व समर्पण करके स्वर्गलोकमें गये हैं॥ १५॥

करन्धमस्य पौत्रस्तु मरुत्तोऽविक्षितः सुतः।
कन्यामांगिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम सः॥ १६॥

करन्धमके पौत्र, अविक्षित्के पुत्र महाराज मरुत्तने अंगिराके पुत्र संवर्तको कन्यादान करके शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया॥ १६॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा धर्मभृतां वरः।
निधिं शङ्खमनुज्ञाप्य जगाम परमां गतिम्॥ १७॥

पाञ्चालदेशके राजा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको शंखनामक निधि प्रदान करके परम गति प्राप्त कर ली थी॥ १७॥

राजा मित्रसहश्चैव वसिष्ठाय महात्मने।
मदयन्तीं प्रियां भार्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः॥ १८॥

राजा मित्रसह महात्मा वसिष्ठ मुनिको अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती सेवाके लिये देकर स्वर्गलोकमें चले गये॥ १८॥

मनोः पुत्रश्च सुद्युम्नो लिखिताय महात्मने।
दण्डमुद्धृत्य धर्मेण गतो लोकाननुत्तमान्॥ १९॥

मनुपुत्र राजा सुद्युम्न महात्मा लिखितको धर्मतः दण्ड देकर परम उत्तम लोकोंमें गये॥ १९॥

सहस्रचित्योः राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान्॥ २०॥

महान् यशस्वी राजर्षि सहस्रचित्य ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंकी बलि देकर श्रेष्ठ लोकोंमें गये हैं॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम्।
मौद्गल्याय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः॥ २१॥

महाराजा शतद्युम्नने मौद्गल्य नामक ब्राह्मणको समस्त कामनाओंसे परिपूर्ण सुवर्णमय गृह दान देकर स्वर्ग प्राप्त किया है॥ २१॥

भक्ष्यभोज्यस्य च कृतान् राशयः पर्वतोपमान्।
शाण्डिल्याय पुरा दत्त्वा सुमन्युर्दिवमास्थितः॥ २२॥

राजा सुमन्युने भक्ष्य, भोज्य पदार्थोंके पर्वत-जैसे कितने ही ढेर लगाकर उन्हें शाण्डिल्यको दान दिया था। जिससे उन्होंने स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया॥

नाम्ना च द्युतिमान् नाम शाल्वराजो महाद्युतिः।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान्॥ २३॥

महातेजस्वी शाल्वराज द्युतिमान् महर्षि ऋचीकको राज्य देकर सर्वोत्तम लोकोंमें चले गये॥ २३॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम्।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरधिष्ठितान्॥ २४॥

राजर्षि मदिराश्व अपनी सुन्दरी कन्या विप्रवर हिरण्यहस्तको देकर देवताओंके लोकमें चले गये॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वैः कामैरयुज्यत॥ २५॥

प्रभावशाली राजर्षि लोमपादने मुनिवर ऋष्यशृंगको अपनी शान्ता नामवाली कन्या दान की थी, इससे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्णरूपसे सफल हुईं॥ २५॥

कौत्साय दत्त्वा कन्यां तु हंसीं नाम यशस्विनीम्।
गतोऽक्षयानतो लोकान् राजर्षिश्च भगीरथः॥ २६॥

राजर्षि भगीरथ अपनी यशस्विनी कन्या हंसीका कौत्स ऋषिको दान करके अक्षय लोकोंमें गये हैं॥ २६॥

दत्त्वा शतसहस्रं तु गवां राजा भगीरथः।
सवत्सानां कोहलाय गतो लोकाननुत्तमान्॥ २७॥

राजा भगीरथने कोहल नामक ब्राह्मणको एक लाख सवत्सा गौएँ दान कीं, जिससे उन्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हुई॥ २७॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसा च ह।
युधिष्ठिर गताः स्वर्गं विवर्तन्ते पुनः पुनः॥ २८॥

युधिष्ठिर! ये तथा और भी बहुत-से राजा दान और तपस्याके प्रभावसे बारंबार स्वर्गलोकको जाते और पुनः वहाँसे इस लोकमें लौट आते हैं॥ २८॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी।
गृहस्थैर्दानतपसा यैर्लोका वै विनिर्जिताः॥ २९॥

जिन गृहस्थोंने दान और तपस्याके बलसे उत्तम लोकोंपर विजय पायी है, उनकी कीर्ति इस लोकमें तबतक प्रतिष्ठित रहेगी, जबतक कि यह पृथ्वी स्थिर रहेगी॥ २९॥

शिष्टानां चरितं ह्येतत् कीर्तितं मे युधिष्ठिर।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमास्थिताः॥ ३०॥

युधिष्ठिर! यह शिष्ट पुरुषोंका चरित्र बताया गया है। ये सब नरेश दान, यज्ञ और संतानोत्पादन करके स्वर्गमें प्रतिष्ठित हुए हैं॥ ३०॥

दत्त्वा तु सततं तेऽस्तु कौरवाणां धुरन्धर।
दानयज्ञक्रियायुक्ता बुद्धिर्धर्मोपचायिनी॥ ३१॥

कौरवधुरंधर! तुम भी सदा दान करते रहो। तुम्हारी बुद्धि दान और यज्ञकी क्रियामें संलग्न हो धर्मकी उन्नति करती रहे॥ ३१॥

यत्र ते नृपशार्दूल संदेहो वै भविष्यति।
श्वः प्रभाते हि वक्ष्यामि संध्या हि समुपस्थिता॥ ३२॥

नृपश्रेष्ठ! अब तुम्हें जिस विषयमें संदेह होगा, उसे मैं कल सबेरे बताऊँगा; क्योंकि इस समय संध्याकाल उपस्थित है॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३७॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाँच प्रकारके दानोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते भवतस्तात सत्यव्रतपराक्रम।
दानधर्मेण महता ये प्राप्तास्त्रिदिवं नृपाः॥ १॥

(दूसरे दिन प्रातःकाल) युधिष्ठिरने पूछा—सत्यव्रती और पराक्रमसम्पन्न तात! दानजनित महान् धर्मके प्रभावसे जो-जो नरेश स्वर्गलोकमें गये हैं, उन सबका परिचय मैंने आपके मुखसे सुना है॥ १॥

इमांस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मान् धर्मभृतां वर।
दानं कतिविधं देयं किं तस्य च फलं लभेत्॥ २॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! अब मैं दानके सम्बन्धमें इन धर्मोंको सुनना चाहता हूँ कि दानके कितने भेद हैं? और जो दान दिया जाता है, उसका क्या फल मिलता है?॥ २॥

कथं केभ्यश्च धर्म्यं च दानं दातव्यमिष्यते।
कैः कारणैः कतिविधं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ ३॥

कैसे और किन लोगोंको धर्मके अनुसार दान देना अभीष्ट है? किन कारणोंसे देना चाहिये? और दानके कितने भेद हो जाते हैं? यह सब मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ॥ ३॥

भीष्म उवाच

शृणु तत्त्वेन कौन्तेय दानं प्रति ममानघ।
यथा दानं प्रदातव्यं सर्ववर्णेषु भारत॥ ४॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप कुन्तीकुमार! भरतनन्दन! दानके सम्बन्धमें मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, सुनो। सभी वर्णोंके लोगोंको दान किस प्रकार करना चाहिये—यह बता रहा हूँ॥ ४॥

धर्मादर्थाद् भयात् कामात् कारुण्यादिति भारत।
दानं पञ्चविधं ज्ञेयं कारणैर्यैर्निबोध तत्॥ ५॥

भारत! धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया—इन पाँच हेतुओंसे दानको पाँच प्रकारका जानना चाहिये।

अब जिन कारणोंसे दान देना उचित है, उनको सुनो॥

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।
इति दानं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्योऽनसूयता॥ ६॥

दान करनेवाला मनुष्य इहलोकमें कीर्ति और परलोकमें सर्वोत्तम सुख पाता है। इसलिये ईर्ष्यारहित होकर मनुष्य ब्राह्मणोंको अवश्य दान दे (यह धर्ममूलक दान है)॥ ६॥

ददाति वा दास्यति वा मह्यं दत्तमनेन वा।
इत्यर्थिभ्यो निशम्यैव सर्वं दातव्यमर्थिने॥ ७॥

'ये दान देते हैं, ये दान देंगे अथवा इन्होंने मुझे दान दिया है' याचकोंके मुखसे ये बातें सुनकर अपनी कीर्तिकी इच्छासे प्रत्येक याचकको उसकी इच्छाके अनुसार सब कुछ देना चाहिये (यह अर्थमूलक दान है)॥ ७॥

नास्याहं न मदीयोऽयं पापं कुर्याद् विमानितः।
इति दद्याद् भयादेव दृढं मूढाय पण्डितः॥ ८॥

'न मैं इसका हूँ न यह मेरा है तो भी यदि इसको कुछ न दूँ तो अपमानित होकर मेरा अनिष्ट कर डालेगा।' इस भयसे ही विद्वान् पुरुष जब किसी मूर्खको दान दे तो यह भयमूलक दान है॥ ८॥

प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहमिति सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान्।
वयस्यायैवमक्लिष्टं दानं दद्यादतन्द्रितः॥ ९॥

'यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ' यह विचारकर बुद्धिमान् मनुष्य आलस्य छोड़कर अपने मित्रको प्रसन्नतापूर्वक दान दे (यह कामनामूलक दान है)॥ ९॥

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा॥ १०॥

'यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझसे याचना कर रहा है। थोड़ा देनेसे भी संतुष्ट हो जायगा।' यह सोचकर दरिद्र मनुष्यके लिये सर्वथा दयावश दान देना चाहिये॥ १०॥

इति पञ्चविधं दानं पुण्यकीर्तिविवर्धनम्।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः॥ ११॥

यह पाँच प्रकारका दान पुण्य और कीर्तिको बढ़ानेवाला है। यथाशक्ति सबको दान देना चाहिये। ऐसा प्रजापतिका कथन है॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी श्रीकृष्णके पास ऋषियोंका आना, उनका प्रभाव देखना और उनसे वार्तालाप करना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
आगमैर्बहुभिः स्फीतो भवान् नः प्रवरे कुले॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाप्राज्ञ पितामह! आप हमारे श्रेष्ठ कुलमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् और अनेक आगमोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं॥ १॥

त्वत्तो धर्मार्थसंयुक्तमायत्यां च सुखोदयम्।
आश्चर्यभूतं लोकस्य श्रोतुमिच्छाम्यरिंदम॥ २॥

शत्रुदमन! मैं आपके मुखसे अब ऐसे विषयका वर्णन सुनना चाहता हूँ, जो धर्म और अर्थसे युक्त, भविष्यमें सुख देनेवाला और संसारके लिये अद्भुत हो॥ २॥

अयं च कालः सम्प्राप्तो दुर्लभो ज्ञातिबान्धवैः।
शास्ता च न हि नः कश्चित् त्वामृते पुरुषर्षभ॥ ३॥

पुरुषप्रवर! हमारे बन्धु-बान्धवोंको यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। हमारे लिये आपके सिवा दूसरा कोई समस्त धर्मोंका उपदेश करनेवाला नहीं है॥ ३॥

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
वक्तुमर्हसि नः प्रश्नं यत् त्वां पृच्छामि पार्थिव॥ ४॥

अनघ! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह हो तो पृथ्वीनाथ! मैं आपसे जो प्रश्न पूछता हूँ, उसका हम सब लोगोंके लिये उत्तर दीजिये॥ ४॥

अयं नारायणः श्रीमान् सर्वपार्थिवसम्मतः।
भवन्तं बहुमानेन प्रश्रयेण च सेवते॥ ५॥

सम्पूर्ण नरेशोंद्वारा सम्मानित ये श्रीमान् भगवान् नारायण श्रीकृष्ण बड़े आदर और विनयके साथ आपकी सेवा करते हैं॥ ५॥

अस्य चैव समक्षं त्वं पार्थिवानां च सर्वशः।
भ्रातॄणां च प्रियार्थं मे स्नेहाद् भाषितुमर्हसि॥ ६॥

इनके तथा इन भूपतियोंके सामने मेरा और मेरे

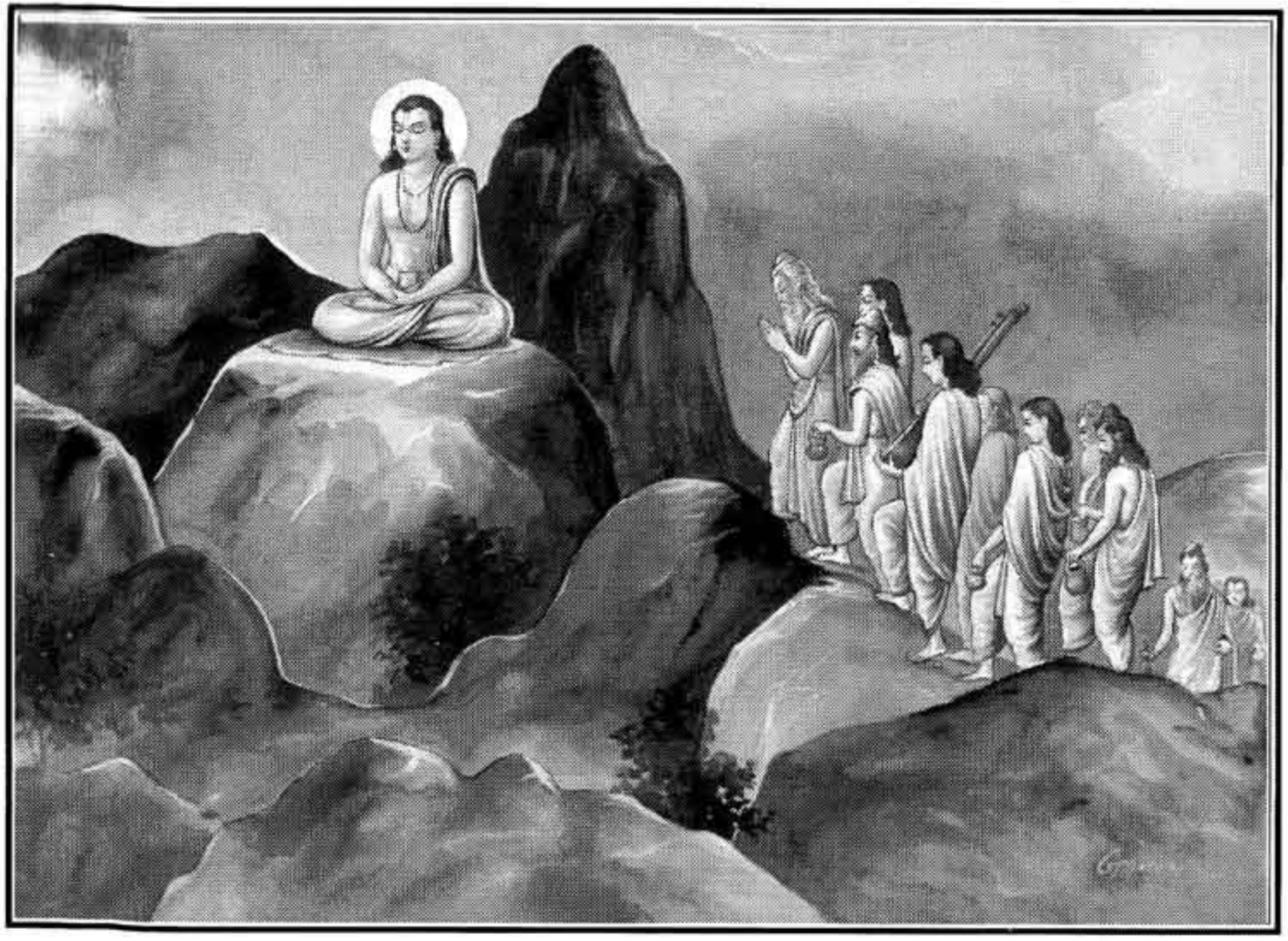

भगवान् श्रीकृष्णकी तपस्या

भाइयोंका सब प्रकारसे प्रिय करनेके लिये इस पूछे हुए विषयका सस्नेह वर्णन कीजिये॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भीष्मो भागीरथीपुत्र इदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर स्नेहके आवेशसे युक्त हो गंगापुत्र भीष्मने यह बात कही॥ ७॥

भीष्म उवाच

अहं ते कथयिष्यामि कथामतिमनोहराम्।
अस्य विष्णोः पुरा राजन् प्रभावो यो मया श्रुतः॥ ८॥
यश्च गोवृषभाङ्कस्य प्रभावस्तं च मे शृणु।
रुद्राण्याः संशयो यश्च दम्पत्योस्तं च मे शृणु॥ ९॥

भीष्मजी बोले—बेटा! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त मनोहर कथा सुना रहा हूँ। राजन्! पूर्वकालमें इन भगवान् नारायण और महादेवजीका जो प्रभाव मैंने सुन रखा है, उसको तथा पार्वतीजीके संदेह करनेपर शिव और पार्वतीमें जो संवाद हुआ था, उसको भी बता रहा हूँ, सुनो॥ ८-९॥

व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्।
दीक्षितं चागतौ द्रष्टुमुभौ नारदपर्वतौ॥ १०॥

पहलेकी बात है, धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले व्रतकी दीक्षा लेकर (एक पर्वतके ऊपर) कठोर तपस्या कर रहे थे। उस समय उनका दर्शन करनेके लिये नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि वहाँ पधारे॥ १०॥

कृष्णद्वैपायनश्चैव धौम्यश्च जपतां वरः।
देवलः काश्यपश्चैव हस्तिकाश्यप एव च॥ ११॥
अपरे चर्षयः सन्तो दीक्षादमसमन्विताः।
शिष्यैरनुगताः सिद्धैर्देवकल्पैस्तपोधनैः॥ १२॥

इनके सिवा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्य, देवल, काश्यप, हस्तिकाश्यप तथा अन्य साधु-महर्षि जो दीक्षा और इन्द्रियसंयमसे सम्पन्न थे, अपने देवोपम, तपस्वी एवं सिद्ध शिष्योंके साथ वहाँ आये॥ ११-१२॥

तेषामतिथिसत्कारमर्चनीयं कुलोचितम्।
देवकीतनयः प्रीतो देवकल्पमकल्पयत्॥ १३॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ देवोचित उपचारोंसे उन महर्षियोंका अपने कुलके अनुरूप आतिथ्य-सत्कार किया॥ १३॥

हरितेषु सुवर्णेषु बर्हिष्केषु नवेषु च।
उपोपविविशुः प्रीता विष्टरेषु महर्षयः॥ १४॥

भगवान्‌के दिये हुए हरे और सुनहरे रंगवाले कुशोंके नवीन आसनोंपर वे महर्षि प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हुए॥

कथाश्चक्रुस्ततस्ते तु मधुरा धर्मसंहिताः।
राजर्षीणां सुराणां च ये वसन्ति तपोधनाः॥ १५॥

तदनन्तर वे राजर्षियों, देवताओं और जो तपस्वी मुनि वहाँ रहते थे, उनके सम्बन्धमें धर्मयुक्त मधुर कथाएँ कहने लगे॥ १५॥

ततो नारायणं तेजो व्रतचर्येन्धनोत्थितम्।
वक्त्रान्निःसृत्य कृष्णस्य वह्निरद्भुतकर्मणः॥ १६॥
सोऽग्निर्ददाह तं शैलं सद्रुमं सलताक्षुपम्।
सपक्षिमृगसंघातं सश्वापदसरीसृपम्॥ १७॥

तत्पश्चात् व्रतचर्यारूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ भगवान् नारायणका तेज अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकलकर अग्निरूपमें प्रकट हो वृक्ष, लता, झाड़ी, पक्षी, मृगसमुदाय, हिंसक जन्तु तथा सर्पोंसहित उस पर्वतको जलाने लगा॥ १६-१७॥

मृगैश्च विविधाकारैर्हाहाभूतमचेतनम्।
शिखरं तस्य शैलस्य मथितं दीनदर्शनम्॥ १८॥

उस समय नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंका आर्तनाद चारों ओर फैल रहा था, मानो पर्वतका वह अचेतन शिखर स्वयं ही हाहाकार कर रहा हो। उस तेजसे दग्ध हो जानेके कारण वह पर्वतशिखर बड़ा दयनीय दिखायी देता था॥ १८॥

स तु वह्निर्महाज्वालो दग्ध्वा सर्वमशेषतः।
विष्णोः समीप आगम्य पादौ शिष्यवदस्पृशत्॥ १९॥

बड़ी-बड़ी लपटोंवाली उस आगने समस्त पर्वत-शिखरको दग्ध करके भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) के समीप आकर जैसे शिष्य गुरुके चरण छूता है, उसी प्रकार उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया और उन्हींमें वह विलीन हो गयी॥ १९॥

ततो विष्णुर्गिरिं दृष्ट्वा निर्दग्धमरिकर्शनः।
सौम्यैर्दृष्टिनिपातैस्तं पुनः प्रकृतिमानयत्॥ २०॥

तदनन्तर शत्रुसूदन श्रीकृष्णने उस पर्वतको दग्ध हुआ देखकर अपनी सौम्य दृष्टि डाली और उसे पुनः प्रकृतावस्थामें पहुँचा दिया—पहलेकी भाँति हरा-भरा कर दिया॥ २०॥

तथैव स गिरिर्भूयः प्रपुष्पितलताद्रुमः।
सपक्षिगणसंघुष्टः सश्वापदसरीसृपः॥ २१॥

वह पर्वत फिर पहलेकी ही भाँति खिली हुई लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित होने लगा। वहाँ पक्षी चहचहाने लगे। वहाँ हिंसक पशु और सर्प आदि जीव-जन्तु जी उठे॥ २१॥

(सिद्धचारणसंघैश्च प्रसन्नैरुपशोभितः।
मत्तवारणसंयुक्तो नानापक्षिगणैर्युतः॥)

सिद्धों और चारणोंके समुदाय प्रसन्न होकर उस पर्वतकी शोभा बढ़ाने लगे। वह स्थान पुनः मतवाले हाथियों और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सम्पन्न हो गया॥

तमद्भुतमचिन्त्यं च दृष्ट्वा मुनिगणस्तदा।
विस्मितो हृष्टरोमा च बभूवास्त्राविलेक्षणः॥ २२॥

इस अद्भुत और अचिन्त्य घटनाको देखकर ऋषियोंका समुदाय विस्मित और रोमांचित हो उठा। उन सबके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आये॥ २२॥

ततो नारायणो दृष्ट्वा तानृषीन् विस्मयान्वितान्।
प्रश्रितं मधुरं स्निग्धं पप्रच्छ वदतां वरः॥ २३॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने उन ऋषियोंको विस्मयविमुग्ध हुआ देख विनय और स्नेहसे युक्त मधुर वाणीमें पूछा—॥ २३॥

किमर्थमृषिपूगस्य त्यक्तसङ्गस्य नित्यशः।
निर्ममस्यागमवतो विस्मयः समुपागतः॥ २४॥

'महर्षियो! ऋषिसमुदाय तो आसक्ति और ममतासे रहित है! सबको शास्त्रोंका ज्ञान है, फिर भी आपलोगोंको आश्चर्य क्यों हो रहा है?॥ २४॥

एतन्मे संशयं सर्वे याथातथ्यमनिन्दिताः।
ऋषयो वक्तुमर्हन्ति निश्चितार्थं तपोधनाः॥ २५॥

'तपोधन ऋषियो! आप सब लोग सबके द्वारा प्रशंसित हैं, अतः मेरे इस संशयको निश्चित एवं यथार्थ-रूपसे बतानेकी कृपा करें'॥ २५॥

ऋषय ऊचुः

भवान् विसृजते लोकान् भवान् संहरते पुनः।
भवान् शीतं भवानुष्णं भवानेव च वर्षति॥ २६॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आप ही संसारको बनाते और आप ही पुनः उसका संहार करते हैं। आप ही सर्दी, आप ही गर्मी और आप ही वर्षा करते हैं॥ २६॥

पृथिव्यां यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
तेषां पिता त्वं माता त्वं प्रभुः प्रभव एव च॥ २७॥

इस पृथ्वीपर जो भी चराचर प्राणी हैं, उनके पिता-माता, प्रभु और उत्पत्तिस्थान भी आप ही हैं॥

एवं नो विस्मयकरं संशयं मधुसूदन।
त्वमेवार्हसि कल्याण वक्तुं वह्नेर्विनिर्गमम्॥ २८॥

मधुसूदन! आपके मुखसे अग्निका प्रादुर्भाव हमारे लिये इस प्रकार विस्मयजनक हुआ है। हम संशयमें पड़ गये हैं। कल्याणमय श्रीकृष्ण! आप ही इसका कारण बताकर हमारे संदेह और विस्मयका निवारण कर सकते हैं॥ २८॥

ततो विगतसंत्रासा वयमप्यरिकर्शन।
यच्छ्रुतं यच्च दृष्टं नस्तत् प्रवक्ष्यामहे हरे॥ २९॥

शत्रुसूदन हरे! उसे सुनकर हम भी निर्भय हो जायँगे और हमने जो आश्चर्यकी बात देखी या सुनी है, उसका हम आपके सामने वर्णन करेंगे॥ २९॥

वासुदेव उवाच

एतद् वै वैष्णवं तेजो मम वक्त्राद् विनिःसृतम्।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो येनायं मथितो गिरिः॥ ३०॥

श्रीकृष्ण बोले—मुनिवरो! मेरे मुखसे यह मेरा वैष्णव तेज प्रकट हुआ था; जिसने प्रलयकालकी अग्निके समान रूप धारण करके इस पर्वतको दग्ध कर डाला था॥ ३०॥

ऋषयश्चार्तिमापन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
भवन्तो व्यथिताश्चासन् देवकल्पास्तपोधनाः॥ ३१॥

उसी तेजसे आप-जैसे तपस्याके धनी, देवोपम शक्तिशाली, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय ऋषि भी पीड़ित और व्यथित हो गये थे॥ ३१॥

व्रतचर्यापरीतस्य तपस्विव्रतसेवया।
मम वह्निः समुद्भूतो न वै व्यथितुमर्हथ॥ ३२॥

मैं व्रतचर्यामें लगा हुआ था, तपस्वी जनोंके उस व्रतका सेवन करनेसे मेरा तेज ही अग्निरूपमें प्रकट हुआ था। अतः आपलोग उससे व्यथित न हों॥ ३२॥

व्रतं चर्तुमिहायातस्त्वहं गिरिमिमं शुभम्।
पुत्रं चात्मसमं वीर्ये तपसा लब्धुमागतः॥ ३३॥

मैं तपस्याद्वारा अपने ही समान वीर्यवान् पुत्र पानेकी इच्छासे व्रत करनेके लिये इस मंगलकारी पर्वतपर आया हूँ॥ ३३॥

ततो ममात्मा यो देहे सोऽग्निर्भूत्वा विनिःसृतः।
गतश्च वरदं द्रष्टुं सर्वलोकपितामहम्॥ ३४॥

मेरे शरीरमें स्थित प्राण ही अग्निके रूपमें बाहर निकलकर सबको वर देनेवाले सर्वलोक-पितामह ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये उनके लोकमें गया था॥ ३४॥

तेन चात्मानुशिष्टो मे पुत्रत्वे मुनिसत्तमाः।
तेजसोऽर्धेन पुत्रस्ते भवितेति वृषध्वजः॥ ३५॥

मुनिवरो! उन ब्रह्माजीने मेरे प्राणको यह संदेश देकर भेजा है कि साक्षात् भगवान् शंकर अपने तेजके आधे भागसे आपके पुत्र होंगे॥ ३५॥

सोऽयं वह्निरुपागम्य पादमूले ममान्तिकम्।
शिष्यवत् परिचर्यार्थं शान्तः प्रकृतिमागतः॥ ३६॥

वही यह अग्निरूपी प्राण मेरे पास लौटकर आया है और निकट पहुँचनेपर शिष्यकी भाँति परिचर्या करनेके लिये उसने मेरे चरणोंमें प्रणाम किया है। इसके बाद शान्त होकर वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो गया है॥ ३६॥

एतदेव रहस्यं वः पद्मनाभस्य धीमतः।
मया प्रोक्तं समासेन न भीः कार्या तपोधनाः॥ ३७॥

तपोधनो! यह मैंने आपलोगोंके निकट बुद्धिमान् भगवान् विष्णुका गुप्त रहस्य संक्षेपसे बताया है। आपलोगोंको भय नहीं मानना चाहिये॥ ३७॥

सर्वत्र गतिरव्यग्रा भवतां दीर्घदर्शनात्।
तपस्विव्रतसंदीप्ता ज्ञानविज्ञानशोभिताः॥ ३८॥

आपलोगोंकी गति सर्वत्र है, उसका कहीं भी प्रतिरोध नहीं है; क्योंकि आपलोग दूरदर्शी हैं। तपस्वी जनोंके योग्य व्रतका आचरण करनेसे आपलोग देदीप्यमान हो रहे हैं तथा ज्ञान और विज्ञान आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं॥ ३८॥

यच्छ्रुतं यच्च वो दृष्टं दिवि वा यदि वा भुवि।
आश्चर्यं परमं किंचित् तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे॥ ३९॥

इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि आपलोगोंने इस पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई महान् आश्चर्यकी बात देखी या सुनी हो तो उसको मुझे बतलाइये॥ ३९॥

तस्यामृतनिकाशस्य वाङ्मधोरस्ति मे स्पृहा।
भवद्भिः कथितस्येह तपोवननिवासिभिः॥ ४०॥

आपलोग तपोवनमें निवास करनेवाले हैं, इस जगत्में आपके द्वारा कथित अमृतके समान मधुर वचन सुननेकी इच्छा मुझे सदा बनी रहती है॥ ४०॥

यद्यप्यहमदृष्टं वो दिव्यमद्भुतदर्शनम्।
दिवि वा भुवि वा किंचित् पश्याम्यमरदर्शनाः॥ ४१॥
प्रकृतिः सा मम परा न क्वचित् प्रतिहन्यते।
न चात्मगतमैश्वर्यमाश्चर्यं प्रतिभाति मे॥ ४२॥
श्रद्धेयः कथितो ह्यर्थः सज्जनश्रवणं गतः।
चिरं तिष्ठति मेदिन्यां शैले लेख्यामिवार्पितम्॥ ४३॥

महर्षियो! आपका दर्शन देवताओंके समान दिव्य है। यद्यपि द्युलोक अथवा पृथिवीमें जो दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देनेवाली वस्तु है, जिसे आपलोगोंने भी नहीं देखा है, वह सब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ। सर्वज्ञता मेरा उत्तम स्वभाव है। वह कहीं भी प्रतिहत नहीं होता तथा मुझमें जो ऐश्वर्य है, वह मुझे आश्चर्यरूप नहीं जान पड़ता तथापि सत्पुरुषोंके कानोंमें पड़ा हुआ कथित विषय विश्वासके योग्य होता है और वह पत्थरपर खिंची हुई लकीरकी भाँति इस पृथ्वीपर बहुत दिनोंतक कायम रहता है॥ ४१—४३॥

तदहं सज्जनमुखान्निःसृतं तत्समागमे।
कथयिष्याम्यहमहो बुद्धिदीपकरं नृणाम्॥ ४४॥

अतः मैं आप साधु-संतोंके मुखसे निकले हुए वचनको मनुष्योंकी बुद्धिका उद्दीपक (प्रकाशक) मानकर उसे सत्पुरुषोंके समाजमें कहूँगा॥ ४४॥

ततो मुनिगणाः सर्वे विस्मिताः कृष्णसंनिधौ।
नेत्रैः पद्मदलप्रख्यैरपश्यंस्तं जनार्दनम्॥ ४५॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप बैठे हुए सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे कमलदलके समान खिले हुए नेत्रोंसे उनकी ओर देखने लगे॥ ४५॥

वर्धयन्तस्तथैवान्ये पूजयन्तस्तथापरे।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तुवन्तो मधुसूदनम्॥ ४६॥

कोई उन्हें बधाई देने लगा, कोई उनकी पूजा-प्रशंसा करने लगा और कोई ऋग्वेदकी अर्थयुक्त ऋचाओंद्वारा उन मधुसूदनकी स्तुति करने लगा॥ ४६॥

ततो मुनिगणाः सर्वे नारदं देवदर्शनम्।
तदा नियोजयोमासुर्वचने वाक्यकोविदम्॥ ४७॥

तदनन्तर उन सभी मुनियोंने बातचीत करनेमें कुशल देवदर्शी नारदको भगवान्की बातचीतका उत्तर देनेके लिये नियुक्त किया॥ ४७॥

मुनय ऊचुः

यदाश्चर्यमचिन्त्यं च गिरौ हिमवति प्रभो।
अनुभूतं मुनिगणैस्तीर्थयात्रापरैर्मुने॥ ४८॥
तद् भवानृषिसंघस्य हितार्थं सर्वमादितः।
यथा दृष्टं हृषीकेशे सर्वमाख्यातुमर्हसि॥ ४९॥

मुनि बोले—प्रभो! मुने! तीर्थयात्रापरायण मुनियोंने हिमालय पर्वतपर जिस अचिन्त्य आश्चर्यका दर्शन एवं अनुभव किया है, वह सब आप आरम्भसे ही ऋषिसमूहके हितके लिये भगवान् श्रीकृष्णके बताइये॥ ४८-४९॥

एवमुक्तः स मुनिभिर्नारदो भगवान् मुनिः।
कथयामास देवर्षिः पूर्ववृत्तामिमां कथाम्॥ ५०॥

मुनियोंके ऐसा कहनेपर देवर्षि भगवान् नारदमुनिने यह पूर्वघटित कथा कही॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा हिमालय पर्वतपर भूतगणोंके सहित शिवजीकी शोभाका विस्तृत वर्णन, पार्वतीका आगमन, शिवजीकी दोनों आँखोंको अपने हाथोंसे बंद करना और तीसरे नेत्रका प्रकट होना, हिमालयका भस्म होना और पुनः प्राकृत अवस्थामें हो जाना तथा शिव-पार्वतीके धर्मविषयक संवादकी उत्थापना

भीष्म उवाच

ततो नारायणसुहृन्नारदो भगवानृषिः।
शङ्करस्योमया सार्धं संवादं प्रत्यभाषत॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर श्रीनारायणके सुहृद् भगवान् नारदमुनिने शंकरजीका पार्वतीके साथ जो संवाद हुआ था, उसे बताना आरम्भ किया॥ १॥

नारद उवाच

तपश्चचार धर्मात्मा वृषभाङ्कः सुरेश्वरः।
पुण्ये गिरौ हिमवति सिद्धचारणसेविते॥ २॥
नानौषधियुते रम्ये नानापुष्पसमाकुले।
अप्सरोगणसंकीर्णे भूतसंघनिषेविते॥ ३॥

नारदजीने कहा—भगवन्! जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते है, जो नाना प्रकारकी ओषधियोंसे सम्पन्न तथा भाँति-भाँतिके फूलोंसे व्याप्त होनेके कारण रमणीय जान पड़ता है, जहाँ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ भरी रहती हैं और भूतोंकी टोलियाँ निवास करती हैं; उस परम पवित्र हिमालयपर्वतपर धर्मात्मा देवाधिदेव भगवान् शंकर तपस्या कर रहे थे॥ २-३॥

तत्र देवो मुदा युक्तो भूतसंघशतैर्वृतः।
नानारूपैर्विरूपैश्च दिव्यैरद्भुतदर्शनैः॥ ४॥

उस स्थानपर महादेवजी सैकड़ों भूतसमुदायोंसे घिरे रहकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। उन भूतोंके रूप नाना प्रकारके एवं विकृत थे, किन्हीं-किन्हींके रूप दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देते थे॥ ४॥

सिंहव्याघ्रगजप्रख्यैः सर्वजातिसमन्वितैः।
क्रोष्टुकद्वीपिवदनैर्ऋक्षर्षभमुखैस्तथा॥ ५॥

कुछ भूतोंकी आकृति सिंहों, व्याघ्रों एवं गजराजोंके समान थी। उनमें सभी जातियोंके प्राणी सम्मिलित थे। कितने ही भूतोंके मुख सियारों, चीतों, रीछों और बैलोंके समान थे॥ ५॥

उलूकवदनैर्भीमैर्वृकश्येनमुखैस्तथा।
नानावर्णैर्मृगमुखैः सर्वजातिसमन्वितैः॥ ६॥

कितने ही उल्लू-जैसे मुखवाले थे। बहुत-से भयंकर भूत भेड़ियों और बाजोंके समान मुख धारण करते थे। और कितनोंके मुख हरिणोंके समान थे। उन सबके वर्ण अनेक प्रकारके थे तथा वे सभी जातियोंसे सम्पन्न थे॥ ६॥

किंनरैर्यक्षगन्धर्वै रक्षोभूतगणैस्तथा।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णं दिव्यज्वालासमाकुलम्॥ ७॥
दिव्यचन्दनसंयुक्तं दिव्यधूपेन धूपितम्।
तत् सदो वृषभाङ्कस्य दिव्यवादित्रनादितम्॥ ८॥
मृदङ्गपणवोद्घुष्टं शङ्खभेरीनिनादितम्।
नृत्यद्भिर्भूतसंघैश्च बर्हिणैश्च समन्ततः॥ ९॥

इनके सिवा बहुत-से किन्नरों, यक्षों, गन्धर्वों, राक्षसों तथा भूतगणोंने भी महादेवजीको घेर रखा था। भगवान् शंकरकी वह सभा दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित, दिव्य तेजसे व्याप्त, दिव्य चन्दनसे चर्चित और दिव्य धूपकी सुगन्धसे सुवासित थी। वहाँ दिव्य वाद्योंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। मृदंग और पणवका घोष छाया रहता था। शंख और भेरियोंके नाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे। चारों ओर नाचते हुए भूतसमुदाय और मयूर उसकी शोभा बढ़ाते थे॥ ७—९॥

प्रनृत्ताप्सरसं दिव्यं देवर्षिगणसेवितम्।
दृष्टिकान्तमनिर्देश्यं दिव्यमद्भुतदर्शनम्॥ १०॥

वहाँ अप्सराएँ नृत्य करती थीं, वह दिव्य सभा देवर्षियोंके समुदायसे शोभित, देखनेमें मनोहर, अनिर्देश्यनीय, अलौकिक और अद्भुत थी॥ १०॥

स गिरिस्तपसा तस्य गिरिशस्य व्यरोचत।
स्वाध्यायपरमैर्विप्रैर्ब्रह्मघोषे विनादितः॥ ११॥

भगवान् शंकरकी तपस्यासे उस पर्वतकी बड़ी शोभा हो रही थी। स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणोंकी वेद-ध्वनि वहाँ सब ओर गूँज रही थी॥ ११॥

षट्पदैरुपगीतैश्च माधवाप्रतिमो गिरिः।
तत्सहोत्सवसंकाशं भीमरूपधरे ततः॥ १२॥
दृष्ट्वा मुनिगणस्थस्तु परा प्रीतिर्जनार्दन।

माधव! वह अनुपम पर्वत भ्रमरोंके गीतोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। जनार्दन! वह स्थान अत्यन्त भयंकर होनेपर भी महान् उत्सवसे सम्पन्न-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर मुनियोंके समुदायको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

मुमुचुश्च महाभागाः सिद्धाश्चैवोर्ध्वरेतसः॥ १३॥
मरुतो वसवः साध्या विश्वेदेवाः सवासवाः।
यक्षा नागाः पिशाचाश्च लोकपाला हुताशनाः॥ १४॥
वायवः सर्वे महाभूतास्तत्रैकमन् समागताः।

महान् सौभाग्यशाली मुनि, ऊर्ध्वरेता सिद्धगण, मरुद्गण, वसुगण, साध्यगण, इन्द्रसहित विश्वेदेवगण, यक्ष और नाग, पिशाच, लोकपाल, अग्नि, समस्त वायु और प्रधान भूतगण वहाँ आये हुए थे॥ १३-१४½॥

ऋतवः सर्वपुष्पैश्च व्यकिरन् महाद्भुतैः॥ १५॥
ओषध्यो ज्वलमानाश्च द्योतयन्ति स्म तद् वनम्।

ऋतुएँ वहाँ उपस्थित हो सब प्रकारके अत्यन्त अद्भुत पुष्प बिखेर रही थीं। ओषधियाँ प्रज्वलित हो उस वनको प्रकाशित कर रही थीं॥ १५½॥

विहङ्गाश्च मुदा युक्ताः प्रानृत्यन् व्यनदंश्च ह॥ १६॥
गिरिपृष्ठेषु रम्येषु व्याहरन्तो जनप्रियाः।

वहाँके रमणीय पर्वतशिखरोंपर लोगोंको प्रिय लगनेवाली बोली बोलते हुए पक्षी प्रसन्नतासे युक्त हो नाचते और कलरव करते थे॥ १६½॥

तत्र देवो गिरितटे दिव्यधातुविभूषिते॥ १७॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो महामनाः।

दिव्य धातुओंसे विभूषित पर्वतके समान उस पर्वतशिखरपर बैठे हुए महामना महादेवजी बड़ी शोभा पा रहे थे॥ १७½॥

व्याघ्रचर्माम्बरधरः सिंहचर्मोत्तरच्छदः॥ १८॥
व्यालयज्ञोपवीती च लोहितरुद्रभूषणः।
हरिश्मश्रुर्जटी भीमो भयकर्ता मुरद्विषाम्॥ १९॥
अभयः सर्वभूतानां भक्तानां वृषभध्वजः।

उन्होंने व्याघ्रचर्मको ही वस्त्रके रूपमें धारण कर रखा था। सिंहका चर्म उनके लिये उत्तरीय वस्त्र (चादर)का काम देता था। उनके गलेमें सर्पमय यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था। वे लाल रंगके बालूसे विभूषित थे। उनकी मूँछ काली थी, मस्तकपर जटाजूट शोभा पाता था। वे भीमस्वरूप रुद्र देवर्षियोंके मनमें भय उत्पन्न करते थे। अपनी ध्वजामें वृषभका चिह्न धारण करनेवाले वे भगवान् शिव भक्तों तथा सम्पूर्ण भूतोंके भयका निवारण करते थे॥ १८-१९½॥

दृष्ट्वा महर्षयः सर्वे शिरोभिरवनिं गताः॥ २०॥
(गीर्भिः परमशुद्धाभिस्तुष्टुवुश्च मनोहरम्॥)
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः क्षान्ता विगतकल्मषाः।

भगवान् शंकरका दर्शन करके उन सभी महर्षियोंने पृथ्वीपर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया और परम शुद्ध वाणीद्वारा उनकी मनोहर स्तुति की। वे सभी ऋषि सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, क्षमाशील और कल्मषरहित थे॥

तस्य भूतपतेः स्थानं भीमरूपधरं प्रभोः॥ २१॥
अप्रधृष्यतरं चैव महोरगसमाकुलम्।

भगवान् भूतनाथका वह भयानक स्थान बड़ी शोभा पा रहा था। वह अत्यन्त दुर्धर्ष और बड़े-बड़े सर्पोंसे भरा हुआ था॥ २१½॥

क्षणेनैवाभवत् सर्वमद्भुतं मधुसूदन॥ २२॥
तत् सटो वृषभाङ्कस्य भीमरूपधरे प्रभौ।

मधुसूदन! वृषभध्वजका वह भयानक सभास्थल क्षणभरमें अद्भुत शोभा पाने लगा॥ २२½॥

समभ्ययाच्छैलसुता भूतस्त्रीगणसंवृता॥ २३॥
हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतधारिणी।
बिभ्रती कलशं रौक्मं सर्वतीर्थजलोद्भवम्॥ २४॥

उस समय भूतोंकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गिरिराज-नन्दिनी उमा सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे भरा हुआ सोनेका कलश लिये उनके पास आयीं। उन्होंने भी भगवान् शंकरके समान ही वस्त्र धारण किया था। वे भी उन्हींकी भाँति उग्र व्रतका पालन करती थीं॥ २३-२४॥

गिरिस्रवाभिः सर्वाभिः पृष्ठतोऽनुगता शुभा।
पुष्पवृष्ट्याभिवर्षन्ती गन्धर्वह्रदिधैस्तथा।
सेवन्ती हिमवत् पार्श्वं हरपार्श्वमुपागमत्॥ २५॥

उनके पीछे-पीछे उस पर्वतसे गिरनेवाली सभी नदियाँ चल रही थीं। शुभलक्षणा पार्वती फूलोंकी वर्षा करती और नाना प्रकारकी सुगन्ध बिखेरती हुई भगवान् शिवके पास आयीं। वे भी हिमालयके पार्श्वभागका ही सेवन करती थीं॥ २५॥

ततः स्मयन्ती पाणिभ्यां नर्मार्थं चारुहासिनी।
हरनेत्रे शुभे देवी सहसा सा समावृणोत्॥ २६॥

आते ही मनोहर हास्यवाली देवी उमाने मनोरंजन या हास-परिहासके लिये मुसकराकर अपने दोनों हाथोंसे सहसा भगवान् शंकरके दोनों नेत्र बंद कर लिये॥

संवृताभ्यां तु नेत्राभ्यां तमोभूतमचेतनम्।
निर्होमं निर्वषट्कारं जगद् वै सहसाभवत्॥ २७॥

उनके दोनों नेत्रोंके आच्छादित होते ही सारा जगत् सहसा अन्धकारमय, चेतनाशून्य तथा होम और वषट्कारसे रहित हो गया॥ २७॥

जनश्च विमनाः सर्वोऽभवत् त्राससमन्वितः।
निमीलिते भूतपतौ नष्टसूर्य इवाभवत्॥ २८॥

सब लोग अनमने हो गये, सबके ऊपर त्रास छा गया। भूतनाथके नेत्र बंद कर लेनेपर इस संसारकी वैसी ही दशा हो गयी, मानो सूर्यदेव नष्ट हो गये हैं॥ २८॥

ततो वितिमिरो लोकः क्षणेन समपद्यत।
ज्वाला च महती दीप्ता ललाटात् तस्य निःसृता॥ २९॥

तदनन्तर क्षणभरमें सारे जगत्का अन्धकार दूर हो गया। भगवान् शिवके ललाटसे अत्यन्त दीप्तिशालिनी महाज्वाला प्रकट हो गयी॥ २९॥

तृतीयं चास्य सम्भूतं नेत्रमादित्यसंनिभम्।
युगान्तसदृशं दीप्तं येनासौ मथितो गिरिः॥ ३०॥

उनके ललाटमें आदित्यके समान तेजस्वी तीसरे नेत्रका आविर्भाव हो गया। वह नेत्र प्रलयाग्निके समान देदीप्यमान हो रहा था। उस नेत्रसे प्रकट हुई ज्वालाने उस पर्वतको जलाकर मथ डाला॥ ३०॥

ततो गिरिसुता दृष्ट्वा दीप्ताग्निसदृशेक्षणम्।
हरं प्रणम्य शिरसा ददर्शायतलोचना॥ ३१॥

तब महादेवजीको प्रज्वलित अग्निके सदृश तीसरे नेत्रसे युक्त हुआ देख गिरिराजनन्दिनी विशाललोचना उमाने सिरसे प्रणाम करके उनकी ओर चकित दृष्टिसे देखा॥ ३१॥

दह्यमाने वने तस्मिन् ससालसरलद्रुमे।
सचन्दनवरे रम्ये दिव्यौषधिविदीपिते॥ ३२॥

साल और सरल आदि वृक्षोंसे युक्त, श्रेष्ठ चन्दन-वृक्षसे सुशोभित तथा दिव्य ओषधियोंसे प्रकाशित उस रमणीय वनमें आग लग गयी थी और वह सब ओरसे जल रहा था॥ ३२॥

मृगयूथैर्द्रुतैर्भीतैर्हरपार्श्वमुपागतैः।
शरणं चाप्यविन्दद्भिस्तत् सदः संकुलं बभौ॥ ३३॥

भयभीत मृगोंके झुंडोंको जब कहीं भी शरण न मिली, तब वे भागते हुए महादेवजीके पास आ पहुँचे। उनसे वह सारा सभास्थल भर गया और उसकी अपूर्व शोभा होने लगी॥ ३३॥

ततो नभस्पृशज्वालो विद्युल्लोलाग्निरुल्बणः।
द्वादशादित्यसदृशो युगान्ताग्निरिवापरः॥ ३४॥

वहाँ लगी हुई आगकी लपटें आकाशको चूम रही थीं। विद्युत्के समान चंचल हुई वह आग बड़ी भयानक प्रतीत हो रही थी, वह बारह सूर्योंके समान प्रकाशित होकर दूसरी प्रलयाग्निके समान प्रतीत होती थी॥ ३४॥

क्षणेन तेन निर्दग्धो हिमवानभवन्नगः।
सधातुशिखराभोगो दीप्तदग्धलतौषधिः॥ ३५॥

उसने क्षणभरमें हिमालय पर्वतको धातु और विशाल शिखरोंसहित दग्ध कर डाला। उसकी लताएँ और ओषधियाँ प्रज्वलित हो जलकर भस्म हो गयीं॥

तं दृष्ट्वा मथितं शैलं शैलराजसुता ततः।
भगवन्तं प्रपन्ना वै साञ्जलिप्रग्रहा स्थिता॥ ३६॥

उस पर्वतको दग्ध हुआ देख गिरिराजकुमारी उमा दोनों हाथ जोड़कर भगवान् शंकरकी शरणमें गयीं॥ ३६॥

उमां शर्वस्तदा दृष्ट्वा स्त्रीभावगतमार्दवाम्।
पितुर्दैन्यमनिच्छन्ती प्रीत्यापश्यत् तदा गिरिम्॥ ३७॥

उस समय उमामें नारी-स्वभाववश मृदुता (कातरता) आ गयी थी। वे पिताकी दयनीय अवस्था नहीं देखना चाहती थीं। उनकी ऐसी दशा देख भगवान् शंकरने हिमवान् पर्वतकी ओर प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे देखा॥ ३७॥

क्षणेन हिमवान् सर्वः प्रकृतिस्थः सुदर्शनः।
प्रहृष्टविहगश्चैव सुपुष्पितवनद्रुमः॥ ३८॥

उनकी दृष्टि पड़नेपर क्षणभरमें सारा हिमालय पर्वत पहली स्थितिमें आ गया। देखनेमें परम सुन्दर हो गया। वहाँ हर्षमें भरे हुए पक्षी कलरव करने लगे। उस वनके वृक्ष सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित हो गये॥ ३८॥

प्रकृतिस्थं गिरिं दृष्ट्वा प्रीता देवं महेश्वरम्।
उवाच सर्वलोकानां पतिं शिवमनिन्दिता॥ ३९॥

पर्वतको पूर्वावस्थामें स्थित हुआ देख पतिव्रता पार्वती देवी बहुत प्रसन्न हुईं। फिर उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंके

स्वामी कल्याणस्वरूप महेश्वरदेवसे पूछा॥ ३९॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश शूलपाणे महाव्रत।
संशयो मे महान् जातस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ४०॥

उमा बोलीं—भगवन्! सर्वभूतेश्वर! शूलपाणे! महान् व्रतधारी महेश्वर! मेरे मनमें एक महान् संशय उत्पन्न हुआ है। आप मुझसे उसकी व्याख्या कीजिये॥

किमर्थं ते ललाटे वै तृतीयं नेत्रमुत्थितम्।
किमर्थं च गिरिर्दग्धः सपक्षिगणकाननः॥ ४१॥
किमर्थं च पुनर्देव प्रकृतिस्थस्त्वया कृतः।
तथैव द्रुमसंच्छन्नः कृतोऽयं ते पिता मम॥ ४२॥

क्यों आपके ललाटमें तीसरा नेत्र प्रकट हुआ? किसलिये आपने पक्षियों और वनोंसहित पर्वतको दग्ध किया और देव! फिर किसलिये आपने उसे पूर्वावस्थामें ला दिया। मेरे इन पिताको आपने जो पूर्ववत् वृक्षोंसे आच्छादित कर दिया, इसका क्या कारण है?॥

(एष मे संशयो देव हृदि मे सम्प्रवर्तते।
देवदेव नमस्तुभ्यं तन्मे शंसितुमर्हसि॥

देवदेव! मेरे हृदयमें यह संदेह विद्यमान है। आप इसका समाधान करनेकी कृपा करें। आपको मेरा सादर नमस्कार है॥

नारद उवाच

एवमुक्तस्तथा देव्या प्रीयमाणोऽब्रवीद् भवः॥)

नारदजी कहते हैं—देवी पार्वतीके ऐसा कहने-पर भगवान् शंकर प्रसन्न होकर बोले॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(स्थाने संशयितुं देवि धर्मज्ञे प्रियभाषिणी॥
त्वदृते मां हि वै प्रष्टुं न शक्यं केनचित् प्रिये।

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मको जानने तथा प्रिय वचन बोलनेवाली देवि! तुमने जो संशय उपस्थित किया है, वह उचित ही है। प्रिये! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मुझसे ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता॥

प्रकाशं यदि वा गुह्यं प्रियार्थं प्रब्रवीम्यहम्॥
शृणु तत् सर्वमखिलमस्यां संसदि भामिनी।

भामिनि! प्रकट या गुप्त जो भी बात होगी, तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैं सब कुछ बताऊँगा। तुम इस सभामें मुझसे सारी बातें सुनो॥

सर्वेषामेव लोकानां कूटस्थं विद्धि मां प्रिये॥
मदधीनास्त्रयो लोका यथा विष्णौ तथा मयि।
स्रष्टा विष्णुरहं गोप्ता इत्येतद् विद्धि भामिनि॥

प्रिये! सभी लोकोंमें मुझे कूटस्थ समझो। तीनों लोक मेरे अधीन हैं। ये जैसे भगवान् विष्णुके अधीन हैं, उसी प्रकार मेरे भी अधीन हैं। भामिनि! तुम यही जान लो कि भगवान् विष्णु जगत्के स्रष्टा हैं और मैं इसकी रक्षा करनेवाला हूँ॥

तस्माद् यदा मां स्पृशति शुभं वा यदि वेतरत्।
तथैवेदं जगत् सर्वं तत्तद् भवति शोभने॥)

शोभने! इसीलिये जब मुझसे शुभ या अशुभका स्पर्श होता है, तब यह सारा जगत् वैसा ही शुभ या अशुभ हो जाता है॥

नेत्रे मे संवृते देवि त्वया बाल्यादनिन्दिते।
नष्टालोकस्तदा लोकः क्षणेन समपद्यत॥ ४३॥

देवि! अनिन्दिते! तुमने अपने भोलेपनके कारण मेरी दोनों आँखें बंद कर दीं। इससे क्षणभरमें समस्त संसारका प्रकाश तत्काल नष्ट हो गया॥ ४३॥

नष्टादित्ये तथा लोके तमोभूते नगात्मजे।
तृतीयं लोचनं दीप्तं सृष्टं मे रक्षता प्रजाः॥ ४४॥

गिरिराजकुमारी! संसारमें जब सूर्य अदृश्य हो गये और सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया, तब मैंने प्रजाकी रक्षाके लिये अपने तीसरे तेजस्वी नेत्रकी सृष्टि की है॥ ४४॥

तस्य चाक्ष्णो महत् तेजो येनायं मथितो गिरिः।
त्वत्प्रियार्थं च मे देवि प्रकृतिस्थः पुनः कृतः॥ ४५॥

उसी तीसरे नेत्रका यह महान् तेज था, जिसने इस पर्वतको मथ डाला। देवि! फिर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये मैंने इस गिरिराज हिमवान्को पुनः प्रकृतिस्थ कर दिया है॥ ४५॥

उमोवाच

भगवन् केन ते वक्त्रं चन्द्रवत् प्रियदर्शनम्।
पूर्वं तथैव श्रीकान्तमुत्तरं पश्चिमं तथा॥ ४६॥
दक्षिणं च मुखं रौद्रं केनोर्ध्वं कपिला जटाः।
केन कण्ठश्च ते नीलो बर्हिबर्हनिभः कृतः॥ ४७॥

उमाने कहा—भगवन्! (आपके चार मुख क्यों हैं।) आपका पूर्व दिशावाला मुख चन्द्रमाके समान कान्तिमान् एवं देखनेमें अत्यन्त प्रिय है। उत्तर और पश्चिम दिशाके मुख भी पूर्वकी ही भाँति कमनीय कान्तिसे युक्त हैं। परंतु दक्षिण दिशावाला मुख बड़ा भयंकर है। यह अन्तर क्यों? तथा आपके सिरपर कपिल वर्णकी जटाएँ कैसे हुईं? क्या कारण है कि आपका कण्ठ मोरकी पाँखके समान नीला

हो गया?॥ ४६-४७॥

हस्ते देव पिनाकं ते सततं केन तिष्ठति।
जटिलो ब्रह्मचारी च किमर्थमसि नित्यदा॥ ४८॥

देव! आपके हाथमें पिनाक क्यों सदा विद्यमान रहता है? आप किसलिये नित्य जटाधारी ब्रह्मचारीके वेशमें रहते हैं?॥ ४८॥

एतन्मे संशयं सर्वं वक्तुमर्हसि वै प्रभो।
सधर्मचारिणी चाहं भक्ता चेति वृषध्वज॥ ४९॥

प्रभो! वृषध्वज! मेरे इस सारे संशयका समाधान कीजिये; क्योंकि मैं आपकी सहधर्मिणी और भक्त हूँ॥ ४९॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स भगवान् शैलपुत्र्या पिनाकधृत्।
तस्या धृत्या च बुद्ध्या च प्रीतिमानभवत् प्रभुः॥ ५०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! गिरिराजकुमारी उमाके इस प्रकार पूछनेपर पिनाकधारी भगवान् शिव उनके धैर्य और बुद्धिसे बहुत प्रसन्न हुए॥ ५०॥

ततस्तामब्रवीद् देवः सुभगे श्रूयतामिति।
हेतुभिर्यैर्ममैतानि रूपाणि रुचिरानने॥ ५१॥

तत्पश्चात् उन्होंने पार्वतीजीसे कहा—'सुभगे! रुचिरानने! जिन हेतुओंसे मेरे ये रूप हुए हैं, उन्हें बता रहा हूँ, सुनो॥ ५१॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादनामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल ५७½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शिव-पार्वतीका धर्मविषयक संवाद—वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी आचार एवं प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप धर्मका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

तिलोत्तमा नाम पुरा ब्रह्मणा योषिदुत्तमा।
तिलं तिलं समुद्धृत्य रत्नानां निर्मिता शुभा॥ १॥

भगवान् शिवने कहा—प्रिये! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने एक सर्वोत्तम नारीकी सृष्टि की थी। उन्होंने सम्पूर्ण रत्नोंका तिल-तिलभर सार उद्धृत करके उस शुभलक्षणा सुन्दरीके अंगोंका निर्माण किया था; इसलिये वह तिलोत्तमा नामसे प्रसिद्ध हुई॥ १॥

साभ्यगच्छत मां देवि रूपेणाप्रतिमा भुवि।
प्रदक्षिणं लोभयन्ती मां शुभे रुचिरानना॥ २॥

देवि! शुभे! इस पृथ्वीपर तिलोत्तमाके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुमुखी बाला मुझे लुभाती हुई मेरी परिक्रमा करनेके लिये आयी॥ २॥

यतो यतः सा सुदती मामुपाधावदन्तिके।
ततस्ततो मुखं चारु मम देवि विनिर्गतम्॥ ३॥

देवि! वह सुन्दर दाँतोंवाली सुन्दरी निकटसे मेरी परिक्रमा करती हुई जिस-जिस दिशाकी ओर गयी, उस-उस दिशाकी ओर मेरा मनोरम मुख प्रकट होता गया॥ ३॥

तां दिदृक्षुरहं योगाच्चतुर्मूर्तित्वमागतः।
चतुर्मुखश्च संवृत्तो दर्शयन् योगमुत्तमम्॥ ४॥

तिलोत्तमाके रूपको देखनेकी इच्छासे मैं योगबलसे चतुर्मूर्ति एवं चतुर्मुख हो गया। इस प्रकार मैंने लोगोंको उत्तम योगशक्तिका दर्शन कराया॥ ४॥

पूर्वेण वदनेनाहमिन्द्रत्वमनुशास्मि ह।
उत्तरेण त्वया सार्धं रमाम्यहमनिन्दिते॥ ५॥

मैं पूर्व दिशावाले मुखके द्वारा इन्द्रपदका अनुशासन करता हूँ। अनिन्दिते! मैं उत्तरवर्ती मुखके द्वारा तुम्हारे साथ वार्तालापके सुखका अनुभव करता हूँ॥ ५॥

पश्चिमं मे मुखं सौम्यं सर्वप्राणिसुखावहम्।
दक्षिणं भीमसंकाशं रौद्रं संहरति प्रजाः॥ ६॥

मेरा पश्चिमवाला मुख सौम्य है और सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाला है तथा दक्षिण दिशावाला भयानक मुख रौद्र है, जो समस्त प्रजाका संहार करता है॥

जटिलो ब्रह्मचारी च लोकानां हितकाम्यया।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं पिनाकं मे करे स्थितम्॥ ७॥

लोगोंके हितकी कामनासे ही मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके वेषमें रहता हूँ। देवताओंका हित करनेके लिये पिनाक सदा मेरे हाथमें रहता है॥ ७॥

इन्द्रेण च पुरा व्रजं क्षिप्तं श्रीकाङ्क्षिणा मम।
दग्ध्वा कण्ठं तु तद् यातं तेन श्रीकण्ठता मम॥ ८॥

पूर्वकालमें इन्द्रने मेरी श्री प्राप्त करनेकी इच्छासे मुझपर वज्रका प्रहार किया था। वह वज्र मेरा कण्ठ दग्ध करके चला गया। इससे मेरी श्रीकण्ठ नामसे ख्याति हुई॥ ८॥

(पुरा युगान्तरे यत्नादमृतार्थं सुरासुरैः।
बलवद्भिर्विमथितश्चिरकालं महोदधिः॥

प्राचीन कालके दूसरे युगकी बात है, बलवान् देवताओं और असुरोंने मिलकर अमृतकी प्राप्तिके लिये महान् प्रयास करते हुए चिरकालतक महासागरका मन्थन किया था॥

रज्जुना नागराजेन मथ्यमाने महोदधौ।
विषं तत्र समुद्भूतं सर्वलोकविनाशनम्॥

नागराज वासुकिकी रस्सीसे बँधी हुई मन्दराचलरूपी मथानीद्वारा जब महासागर मथा जाने लगा, तब उससे सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेवाला विष प्रकट हुआ॥

तद् दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे तदा विमनसोऽभवन्।
ग्रस्तं हि तन्मया देवि लोकानां हितकारणात्॥

उसे देखकर सब देवताओंका मन उदास हो गया। देवि! तब मैंने तीनों लोकोंके हितके लिये उस विषको स्वयं पी लिया॥

तत्कृता नीलता चासीत् कण्ठे बर्हिनिभा शुभे।
तदाप्रभृति चैवाहं नीलकण्ठ इति स्मृतः॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।

शुभे! उस विषके ही कारण मेरे कण्ठमें मोर-पंखके समान नीले रंगका चिह्न बन गया। तभीसे मैं नीलकण्ठ कहा जाने लगा। ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दी। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

नीलकण्ठ नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखावह॥
बहूनामायुधानां त्वं पिनाकं धर्तुमिच्छसि।
किमर्थं देवदेवेश तन्मे शंसितुमर्हसि॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले नीलकण्ठ! आपको नमस्कार है। देवदेवेश्वर! बहुत-से आयुधोंके होते हुए भी आप पिनाकको ही किसलिये धारण करना चाहते हैं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

शस्त्रागमं ते वक्ष्यामि शृणु धर्म्यं शुचिस्मिते।
युगान्तरे महादेवि कण्वो नाम महामुनिः॥
स हि दिव्यां तपश्चर्यां कर्तुमेवोपचक्रमे।

श्रीमहेश्वरने कहा—पवित्र मुसकानवाली महादेवि! सुनो। मुझे जिस प्रकार धर्मानुकूल शस्त्रोंकी प्राप्ति हुई है, उसे बता रहा हूँ। युगान्तरमें कण्वनामसे प्रसिद्ध एक महामुनि हो गये हैं। उन्होंने दिव्य तपस्या करनी आरम्भ की॥

तथा तस्य तपो घोरं चरतः कालपर्ययात्॥
वल्मीकं पुनरुद्भूतं तस्यैव शिरसि प्रिये।
धरमाणश्च तत् सर्वं तपश्चर्यां तथाकरोत्।

प्रिये! उसके अनुसार घोर तपस्या करते हुए मुनिके मस्तकपर कालक्रमसे बाँबी जम गयी। वह सब अपने मस्तकपर लिये-दिये वे पूर्ववत् तपश्चर्यामें लगे रहे॥

तस्मै ब्रह्मा वरं दातुं जगाम तपसार्चितः॥
दत्त्वा तस्मै वरं देवो वेणुं दृष्ट्वा त्वचिन्तयत्।

मुनिकी तपस्यासे पूजित हुए ब्रह्माजी उन्हें वर देनेके लिये गये। वर देकर भगवान् ब्रह्माने वहाँ एक बाँस देखा और उसके उपयोगके लिये कुछ विचार किया॥

लोककार्यं समुद्दिश्य वेणुनानेन भामिनि॥
चिन्तयित्वा तमादाय कार्मुकार्थे न्ययोजयत्।

भामिनि! उस बाँसके द्वारा जगत्का उपकार करनेके उद्देश्यसे कुछ सोचकर ब्रह्माजीने उस वेणुको हाथमें ले लिया और उसे धनुषके उपयोगमें लगाया॥

विष्णोर्मम च सामर्थ्यं ज्ञात्वा लोकपितामहः॥
धनुषी द्वे तदा प्रादाद् विष्णवे मम चैव तु।

लोकपितामह ब्रह्माने भगवान् विष्णुकी और मेरी शक्ति जानकर उनके और मेरे लिये तत्काल दो धनुष बनाकर दिये॥

पिनाकं नाम मे चापं शार्ङ्गं नाम हरेर्धनुः॥
तृतीयमवशेषेण गाण्डीवमभवद् धनुः।

मेरे धनुषका नाम पिनाक हुआ और श्रीहरिके धनुषका नाम शार्ङ्ग। उस वेणुके अवशेष भागसे एक तीसरा धनुष बनाया गया, जिसका नाम गाण्डीव हुआ॥

तच्च सोमाय निर्दिश्य ब्रह्मा लोकं गतः पुनः॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं शस्त्रागममनिन्दिते।)

गाण्डीव धनुष सोमको देकर ब्रह्माजी फिर अपने लोकको चले गये। अनिन्दिते! शस्त्रोंकी प्राप्तिका यह

सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें कह सुनाया॥

उमोवाच

वाहनेष्वत्र सर्वेषु श्रीमत्स्वन्येषु सत्तम।
कथं च वृषभो देव वाहनत्वमुपागतः॥ ९॥

उमाने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महादेव! इस जगत्में अन्य सब सुन्दर वाहनोंके होते हुए क्यों वृषभ ही आपका वाहन बना है?॥ ९॥

श्रीमहेश्वर उवाच

सुरभीमसृजद् ब्रह्मा देवधेनुं पयोमुचम्।
सा सृष्टा बहुधा जाता क्षरमाणा पयोऽमृतम्॥ १०॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! ब्रह्माजीने देवताओंके लिये दूध देनेवाली सुरभि नामक गायकी सृष्टि की, जो मेघके समान दूधरूपी जलकी वर्षा करनेवाली थी। उत्पन्न हुई सुरभि अमृतमय दूध बहाती हुई अनेक रूपोंमें प्रकट हो गयी॥ १०॥

तस्या वत्समुखोत्सृष्टः फेनो मद्गात्रमागतः।
ततो दग्धा मया गावो नानावर्णत्वमागताः॥ ११॥

एक दिन उसके बछड़ेके मुखसे निकला हुआ फेन मेरे शरीरपर पड़ गया। इससे मैंने कुपित होकर गौओंको ताप देना आरम्भ किया। मेरे रोषमें दग्ध हुई गौओंके रंग नाना प्रकारके हो गये॥ ११॥

ततोऽहं लोकगुरुणा शमं नीतोऽर्थवेदिना।
वृषं चैनं ध्वजार्थं मे ददौ वाहनमेव च॥ १२॥

अब अर्थनीतिके ज्ञाता लोकगुरु ब्रह्माने मुझे शान्त किया तथा ध्वज-चिह्न और वाहनके रूपमें यह वृषभ मुझे प्रदान किया॥ १२॥

उमोवाच

निवासा बहुरूपास्ते दिवि सर्वगुणान्विताः।
तांश्च संत्यज्य भगवन् श्मशाने रमसे कथम्॥ १३॥

उमाने पूछा—भगवन्! स्वर्गलोकमें अनेक प्रकारके सर्वगुणसम्पन्न निवासस्थान हैं, उन सबको छोड़कर आप श्मशान-भूमिमें कैसे रमते हैं?॥ १३॥

केशास्थिकलिले भीमे कपालघटसंकुले।
गृध्रगोमायुबहुले चिताग्निशतसंकुले॥ १४॥
अशुचौ मांसकलिले वसाशोणितकर्दमे।
विकीर्णान्त्रास्थिनिचये शिवानादविनादिते॥ १५॥

श्मशानभूमि तो केशों और हड्डियोंसे भरी होती है। उस भयानक भूमिमें मनुष्योंकी खोपड़ियाँ और घड़े पड़े रहते हैं। गीधों और गीदड़ोंकी जमातें जुटी रहती हैं। वहाँ सब ओर चिताएँ जला करती हैं। मांस, वसा और रक्तकी कीच-सी मची रहती है। बिखरी हुई आँतोंवाली हड्डियोंके ढेर पड़े रहते हैं और सियारिनोंकी हुआँ-हुआँकी ध्वनि वहाँ गूँजती रहती है, ऐसे अपवित्र स्थानमें आप क्यों रहते हैं?॥ १४-१५॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मेध्यान्वेषी महीं कृत्स्नां विचराम्यनिशं सदा।
न च मेध्यतरं किंचित् श्मशानादिह लक्ष्यते॥ १६॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! मैं पवित्र स्थान ढूँढ़नेके लिये सदा सारी पृथ्वीपर दिन-रात विचरता रहता हूँ, परंतु श्मशानसे* बढ़कर दूसरा कोई पवित्रतर स्थान यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रहा है॥ १६॥

तेन मे सर्ववासानां श्मशाने रमते मनः।
न्यग्रोधशाखासंछन्ने निर्भुग्नस्रग्विभूषिते॥ १७॥

इसलिये सम्पूर्ण निवासस्थानोंमेंसे श्मशानमें ही मेरा मन अधिक रमता है। वह श्मशानभूमि बरगदकी डालियोंसे आच्छादित और मुर्दोंके शरीरसे टूटकर गिरी हुई पुष्पमालाओंके द्वारा विभूषित होती है॥ १७॥

तत्र चैव रमन्तीमे भूतसंघाः शुचिस्मिते।
न च भूतगणैर्देवि विनाहं वस्तुमुत्सहे॥ १८॥

पवित्र मुसकानवाली देवि! ये मेरे भूतगण श्मशानमें ही रमते हैं। इन भूतगणोंके बिना मैं कहीं भी रह नहीं सकता॥ १८॥

एष वासो हि मे मेध्यः स्वर्गीयश्च मतः शुभे।
पुण्यः परमकश्चैव मेध्यकामैरुपास्यते॥ १९॥

शुभे! यह श्मशानका निवास ही मैंने अपने लिये पवित्र और स्वर्गीय माना है। यही परम पुण्यस्थली है। पवित्र वस्तुकी कामना रखनेवाले उपासक इसीकी उपासना करते हैं॥ १९॥

(अस्माच्छ्मशानमेध्यं तु नास्ति किंचिदनिन्दिते।
निस्सम्यातान्मनुष्याणां तस्माच्छुचितमं स्मृतम्॥

अनिन्दिते! इस श्मशानभूमिसे अधिक पवित्र दूसरा कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वहाँ मनुष्योंका अधिक आना-जाना नहीं होता। इसीलिये वह स्थान पवित्रतम माना गया है॥

स्थानं मे तत्र विहितं वीरस्थानमिति प्रिये।
कपालशतसम्पूर्णमभिरूपं भयानकम्॥

---

* यहाँ आचार्य नीलकण्ठके मतमें श्मशान शब्दसे काशीका महाश्मशान ही गृहीत होता है। इसीलिये वहाँ शवके दर्शनसे शिवके दर्शनका फल माना जाता है।

प्रिये! वह वीरोंका स्थान है, इसलिये मैंने वहाँ अपना निवास बनाया है। वह मृतकोंकी सैकड़ों खोपड़ियोंसे भरा हुआ भयानक स्थान भी मुझे सुन्दर लगता है॥

मध्याह्ने संध्ययोस्तत्र नक्षत्रे रुद्रदैवते।
आयुष्कामैरशुद्धैर्वा न गन्तव्यमिति स्थितिः॥

दोपहरके समय, दोनों संध्याओंके समय तथा आर्द्रा नक्षत्रमें दीर्घायुकी कामना रखनेवाले अथवा अशुद्ध पुरुषोंको वहाँ नहीं जाना चाहिये, ऐसी मर्यादा है॥

मदन्येन न शक्यं हि निहन्तुं भूतजं भयम्।
तत्रस्थोऽहं प्रजाः सर्वाः पालयामि दिने दिने॥

मेरे सिवा दूसरा कोई भूतजनित भयका नाश नहीं कर सकता। इसलिये मैं श्मशानमें रहकर समस्त प्रजाओंका प्रतिदिन पालन करता हूँ॥

मन्नियोगाद् भूतसंघा न च घ्नन्तीह कंचन।
तांस्तु लोकहितार्थाय श्मशाने रमयाम्यहम्॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।

मेरी आज्ञा मानकर ही भूतोंके समुदाय अब इस जगत्में किसीकी हत्या नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये मैं उन भूतोंको श्मशानभूमिमें रमाये रखता हूँ। श्मशानभूमिमें रहनेका सारा रहस्य मैंने तुमको बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् देवदेवेश त्रिनेत्र वृषभध्वज।
पिङ्गलं विकृतं भाति रूपं ते तु भयानकम्॥

उमाने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! त्रिनेत्र! वृषभध्वज! आपका रूप पिंगल, विकृत और भयानक प्रतीत होता है॥

भस्मदिग्धं विरूपाक्षं तीक्ष्णदंष्ट्रं जटाकुलम्।
व्याघ्रोदरत्वक्संवीतं कपिलश्मश्रुसंततम्॥

आपके सारे शरीरमें भभूति पुती हुई है, आपकी आँख विकराल दिखायी देती है, दाढ़ें तीखी हैं और सिरपर जटाओंका भार लदा हुआ है, आप बाघम्बर लपेटे हुए हैं और आपके मुखपर कपिल रंगकी दाढ़ी-मूँछ फैली हुई है॥

रौद्रं भयानकं घोरं शूलपट्टिशसंयुतम्।
किमर्थं त्वीदृशं रूपं तन्मे शंसितुमर्हसि॥

आपका रूप ऐसा रौद्र, भयानक, घोर तथा शूल और पट्टिश आदिसे युक्त किसलिये है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं कथयिष्यामि शृणु तत्त्वं समाहिता।
द्विविधो लौकिको भावः शीतमुष्णमिति प्रिये॥

श्रीमहेश्वरने कहा—प्रिये! मैं इसका भी यथार्थ कारण बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। जगत्के सारे पदार्थ दो भागोंमें विभक्त हैं—शीत और उष्ण (अग्नि और सोम)॥

तयोर्हि ग्रथितं सर्वं सौम्याग्नेयमिदं जगत्।
सौम्यत्वं सततं विष्णौ मय्याग्नेयं प्रतिष्ठितम्॥
अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् बिभर्म्यहम्।

अग्नि-सोम-रूप यह सम्पूर्ण जगत् उन शीत और उष्ण तत्त्वोंमें गुँथा हुआ है। सौम्य गुणकी स्थिति सदा भगवान् विष्णुमें है और मुझमें आग्नेय (तैजस) गुण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इस विष्णु और शिवरूप शरीरसे मैं सदा समस्त लोकोंकी रक्षा करता हूँ॥

रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टिशसंयुतम्।
आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहिते रतम्॥

देवि! यह जो विकराल नेत्रोंसे युक्त और शूल-पट्टिशसे सुशोभित भयानक आकृतिवाला मेरा रूप है, यही आग्नेय है। यह सम्पूर्ण जगत्के हितमें तत्पर रहता है॥

यद्यहं विपरीतः स्यामेतत् त्यक्त्वा शुभानने।
तदैव सर्वलोकानां विपरीतं प्रवर्तते॥

शुभानने! यदि मैं इस रूपको त्यागकर इसके विपरीत हो जाऊँ तो उसी समय सम्पूर्ण लोकोंकी दशा विपरीत हो जायगी॥

तस्मान्मयेदं ध्रियते रूपं लोकहितैषिणा।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

देवि! इसलिये लोकहितकी इच्छासे ही मैंने यह रूप धारण किया है। अपने रूपका यह सारा रहस्य बता दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवति देवेशे विस्मिता परमर्षयः।
वाग्भिःसाञ्जलिमालाभिरभितुष्टुवुरीश्वरम्॥

नारदजी कहते हैं—देवेश्वर भगवान् शंकरके ऐसा कहनेपर सभी महर्षि बड़े विस्मित हुए और हाथ जोड़कर अपनी वाणीद्वारा उन महादेवजीकी स्तुति करने लगे॥

ऋषय ऊचुः

नमः शङ्कर सर्वेश नमः सर्वजगद्गुरो।
नमो देवादिदेवाय नमः शशिकलाधर॥

ऋषि बोले—सर्वेश्वर शंकर! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्के गुरुदेव! आपको नमस्कार है। देवताओंके भी आदि देवता! आपको नमस्कार है। चन्द्रकलाधारी शिव! आपको नमस्कार है॥

नमो घोरतराद् घोर नमो रुद्राय शङ्कर।
नमः शान्ततराच्छान्त नमश्चन्द्रस्य पालक॥

अत्यन्त घोरसे भी घोर रुद्रदेव! शंकर! आपको बार-बार नमस्कार है। अत्यन्त शान्तसे भी शान्त शिव! आपको नमस्कार है। चन्द्रमाके पालक! आपको नमस्कार है॥

नमः सोमाय देवाय नमस्तुभ्यं चतुर्मुख।
नमो भूतपते शम्भो जह्नुकन्याम्बुशेखर॥

उमासहित महादेवजीको नमस्कार है। चतुर्मुख! आपको नमस्कार है। गंगाजीके जलको सिरपर धारण करनेवाले भूतनाथ शम्भो! आपको नमस्कार है॥

नमस्त्रिशूलहस्ताय पन्नगाभरणाय च।
नमोऽस्तु विषमाक्षाय दक्षयज्ञप्रदाहक॥

हाथोंमें त्रिशूल धारण करनेवाले तथा सर्पमय आभूषणोंसे विभूषित आप महादेवको नमस्कार है। दक्ष-यज्ञको दग्ध करनेवाले त्रिलोचन! आपको नमस्कार है॥

नमोऽस्तु बहुनेत्राय लोकरक्षणतत्पर।
अहो देवस्य माहात्म्यमहो देवस्य वै कृपा॥
एवं धर्मपरत्वं च देवदेवस्य चार्हति।

लोकरक्षामें तत्पर रहनेवाले शंकर! आपके बहुत-से नेत्र हैं, आपको नमस्कार है। अहो! महादेवजीका कैसा माहात्म्य है। अहो! रुद्रदेवकी कैसी कृपा है। ऐसी धर्मपरायणता देवदेव महादेवके ही योग्य है॥

नारद उवाच

एवं ब्रुवत्सु मुनिषु वचो देव्यब्रवीद्धरम्।
सम्प्रीत्यर्थं मुनीनां सा क्षणज्ञा परमं हितम्॥)

नारदजी कहते हैं—जब मुनि इस प्रकार स्तुति कर रहे थे, उसी समय अवसरको जाननेवाली देवी पार्वती मुनियोंकी प्रसन्नताके लिये भगवान् शंकरसे परम हितकी बात बोलीं॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वधर्मविदां वर।
पिनाकपाणे वरद संशयो मे महानयम्॥ २०॥

उमाने पूछा—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ! सर्वभूतेश्वर! भगवन्! वरदायक! पिनाकपाणे! मेरे मनमें यह एक और महान् संशय है॥ २०॥

अयं मुनिगणः सर्वस्तपस्तेप इति प्रभो।
तपोवेषकरो लोके भ्रमते विविधाकृतिः॥ २१॥
अस्य चैवर्षिसंघस्य मम च प्रियकाम्यया।
एतं ममेह संदेहं वक्तुमर्हस्यरिंदम॥ २२॥

प्रभो! यह जो मुनियोंका सारा समुदाय यहाँ उपस्थित है, सदा तपस्यामें संलग्न रहा है और तपस्वीका वेष धारण किये लोकमें भ्रमण कर रहा है; इन सबकी आकृति भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। शत्रुदमन शिव! इस ऋषिसमुदायका तथा मेरा भी प्रिय करनेकी इच्छासे आप मेरे इस संदेहका समाधान करें॥ २१-२२॥

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं वा चरितुं नरैः।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो॥ २३॥

प्रभो! धर्मज्ञ! धर्मका क्या लक्षण बताया गया है? तथा जो धर्मको नहीं जानते हैं ऐसे मनुष्य उस धर्मका आचरण कैसे कर सकते हैं? यह मुझे बताइये॥ २३॥

नारद उवाच

ततो मुनिगणः सर्वस्तां देवीं प्रत्यपूजयत्।
वाग्भिर्ऋग्भूषितार्थाभिः स्तवैश्चार्थविशारदैः॥ २४॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर समस्त मुनि-समुदायने देवी पार्वतीकी ऋग्वेदके मन्त्रार्थोंसे सुशोभित वाणी तथा उत्तम अर्थयुक्त स्तोत्रोंद्वारा स्तुति एवं प्रशंसा की॥ २४॥

श्रीमहेश्वर उवाच

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥ २५॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! किसी भी जीवकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियोंपर दया करना, मन और इन्द्रियोंपर काबू रखना तथा अपनी शक्तिके अनुसार दान देना गृहस्थ-आश्रमका उत्तम धर्म है॥ २५॥

परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम्॥ २६॥
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः॥ २७॥

(उक्त गृहस्थ-धर्मका पालन करना,) परायी स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना, धरोहर और स्त्रीकी रक्षा करना, बिना दिये किसीकी वस्तु न लेना तथा मांस और मदिराको त्याग देना—ये धर्मके पाँच भेद हैं, जो सुखकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इनमेंसे एक-एक धर्मकी अनेक शाखाएँ हैं। धर्मको श्रेष्ठ माननेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे पुण्यप्रद धर्मका पालन अवश्य करें॥

उमोवाच

भगवन् संशयः पृष्ठस्तन्मे शंसितुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य यो धर्मः स्वे स्वे वर्णे गुणावहः॥ २८॥

उमाने पूछा—भगवन्! मैं एक और संशय उपस्थित करती हूँ; चारों वर्णोंका जो-जो धर्म अपने-अपने वर्णके लिये विशेष लाभकारी हो, वह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये॥ २८॥

ब्राह्मणे कीदृशो धर्मः क्षत्रिये कीदृशोऽभवत्।
वैश्ये किंलक्षणो धर्मः शूद्रे किंलक्षणो भवेत्॥ २९॥

ब्राह्मणके लिये धर्मका स्वरूप कैसा है, क्षत्रियके लिये कैसा है, वैश्यके लिये उपयोगी धर्मका क्या लक्षण है तथा शूद्रके धर्मका भी क्या लक्षण है?॥ २९॥

श्रीमहेश्वर उवाच

(एतत्ते कथयिष्यामि यत्ते देवि मनःप्रियम्।
शृणु तत् सर्वमखिलं धर्मं वर्णाश्रमाश्रितम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! तुम्हारे मनको प्रिय लगनेवाला जो यह धर्मका विषय है, उसे बताऊँगा। तुम वर्णों और आश्रमोंपर अवलम्बित समस्त धर्मका पूर्णरूपसे वर्णन सुनो॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति चतुर्विधम्।
ब्रह्मणा विहिताः पूर्वं लोकतन्त्रमभीप्सता॥
कर्माणि च तदर्हाणि शास्त्रेषु विहितानि वै।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये वर्णोंके चार भेद हैं। लोकतन्त्रकी इच्छा रखनेवाले विधाताने सबसे पहले ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है और शास्त्रोंमें उनके योग्य कर्मोंका विधान किया है॥

यदीदमेकवर्णं स्याज्जगत् सर्वं विनश्यति॥
सहैव देवि वर्णानि चत्वारि विहितान्यतः।

देवि! यदि यह सारा जगत् एक ही वर्णका होता तो सब साथ ही नष्ट हो जाता। इसलिये विधाताने चार वर्ण बनाये हैं॥

मुखतो ब्राह्मणाः सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदाः॥
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् ते बाहुगर्विताः।

ब्राह्मणोंकी सृष्टि विधाताके मुखसे हुई है, इसीलिये वे वाणीविशारद होते हैं। क्षत्रियोंकी सृष्टि दोनों भुजाओंसे हुई है, इसीलिये उन्हें अपने बाहुबलपर गर्व होता है॥

उदरादुद्गता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः॥
शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारकाः।
तेषां धर्माश्च कर्माणि शृणु देवि समाहिता॥

वैश्योंकी उत्पत्ति उदरसे हुई है, इसीलिये वे उदर-पोषणके निमित्त कृषि, वाणिज्यादि वार्तावृत्तिका आश्रय ले जीवन-निर्वाह करते हैं। शूद्रोंकी सृष्टि पैरसे हुई है, इसलिये वे परिचारक होते हैं। देवि! अब तुम एकाग्रचित्त होकर चारों वर्णोंके धर्म और कर्मोंका वर्णन सुनो॥

विप्राः कृता भूमिदेवा लोकानां धारणे कृताः।
ते कैश्चिन्नावमन्तव्या ब्राह्मणा हितमिच्छुभिः॥

ब्राह्मणको इस भूमिका देवता बनाया गया है। वे सब लोकोंकी रक्षाके लिये उत्पन्न किये गये हैं। अतः अपने हितकी इच्छा रखनेवाले किसी भी मनुष्यको ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करना चाहिये॥

यदि ते ब्राह्मणा न स्युर्दानयोगवहाः सदा।
उभयोर्लोकयोर्देवि स्थितिर्न स्यात् समासतः॥

देवि! यदि दान और योगका वहन करनेवाले वे ब्राह्मण न हों तो लोक और परलोक दोनोंकी स्थिति कदापि नहीं रह सकती॥

ब्राह्मणान् योऽवमन्येत निन्देच्च क्रोधयेच्च वा।
प्रहरेत हरेद् वापि धनं तेषां नराधमः॥
कारयेद्धीनकर्माणि कामलोभविमोहनात्।
स च मामवमन्येत मां क्रोधयति निन्दति॥
मामेव प्रहरेन्मूढो मद्धनस्यापहारकः।
मामेव प्रेषणं कृत्वा निन्दते मूढचेतनः॥

जो ब्राह्मणोंका अपमान और निन्दा करता अथवा उन्हें क्रोध दिलाता या उनपर प्रहार करता अथवा उनका धन हर लेता है या काम, लोभ एवं मोहके वशीभूत होकर उनसे नीच कर्म कराता है, वह नराधम मेरा ही अपमान या निन्दा करता है। मुझे ही क्रोध दिलाता है, मुझपर ही प्रहार करता है, वह मूढ़ मेरे ही धनका अपहरण करता है तथा वह मूढ़चित्त मानव मुझे ही इधर-उधर भेजकर नीच कर्म कराता और निन्दा करता है॥

स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः॥
सत्यं शान्तिस्तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः।

वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मणका धर्म है, यह शास्त्रका निर्णय है। वेदोंको पढ़ाना, यजमानका यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी जीविकाके साधनभूत कर्म हैं। सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचारका पालन—यह उनका सनातन धर्म है॥

विक्रयो रसधान्यानां ब्राह्मणस्य विगर्हितः॥

रस और धान्य (अनाज) का विक्रय करना

ब्राह्मणके लिये निन्दित है॥

तप एव सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
स तु धर्मार्थमुत्पन्नः पूर्वं धात्रा तपोबलात्॥)

सदा तप करना ही ब्राह्मणका धर्म है, इसमें संशय नहीं है। विधाताने पूर्वकालमें धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये ही अपने तपोबलसे ब्राह्मणको उत्पन्न किया था॥

न्यायतस्ते महाभागे सर्वशः समुदीरितः।
भूमिदेवा महाभागाः सदा लोके द्विजातयः॥ ३०॥

महाभागे! मैंने तुम्हारे निकट सब प्रकारसे धर्मका निर्णय किया है। महाभाग ब्राह्मण इस लोकमें सदा भूमिदेव माने गये हैं॥ ३०॥

उपवासः सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
स हि धर्मार्थसम्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ३१॥

इसमें संशय नहीं कि उपवास (इन्द्रियसंयम) व्रतका आचरण करना ब्राह्मणके लिये सदा धर्म बतलाया गया है। धर्मार्थसम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ ३१॥

तस्य धर्मक्रिया देवि ब्रह्मचर्या च न्यायतः।
व्रतोपनयनं चैव द्विजो येनोपपद्यते॥ ३२॥

देवि! उसे धर्मका अनुष्ठान और न्यायतः ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। व्रतके पालनपूर्वक उपनयन-संस्कारका होना उसके लिये परम आवश्यक है, क्योंकि उसीसे वह द्विज होता है॥ ३२॥

गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः॥ ३३॥

गुरु और देवताओंकी पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यासरूप धर्मका पालन ब्राह्मणको अवश्य करना चाहिये। धर्मपरायण देहधारियोंको उचित है कि वे पुण्यप्रद धर्मका आचरण अवश्य करें॥ ३३॥

उमोवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं वै नैपुण्येन प्रकीर्तय॥ ३४॥

उमाने कहा—भगवन्! मेरे मनमें अभी संशय रह गया है। अतः उसकी व्याख्या करके मुझे समझाइये। चारों वर्णोंका जो धर्म है, उसका पूर्णरूपसे प्रतिपादन कीजिये॥ ३४॥

श्रीमहेश्वर उवाच

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम्॥ ३५॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्मका रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रतका पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रमका धर्म है॥ ३५॥

भैक्षचर्या परो धर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा॥ ३६॥

ब्रह्मचारीके लिये भैक्षचर्या (गाँवोंमेंसे भिक्षा माँगकर लाना और गुरुको समर्पित करना) परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेदका स्वाध्याय करना और ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंके पालनमें लगे रहना, ब्रह्मचारीका प्रधान कर्म है॥ ३६॥

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि॥ ३७॥

ब्रह्मचर्यकी अवधि समाप्त होनेपर द्विज अपने गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्तन करे और घर आकर अनुरूप स्त्रीसे विधिपूर्वक विवाह करे॥ ३७॥

शूद्रान्नवर्जनं धर्मस्तथा सत्पथसेवनम्।
धर्मो नित्योपवासित्वं ब्रह्मचर्यं तथैव च॥ ३८॥

ब्राह्मणको शूद्रका अन्न नहीं खाना चाहिये, यह उसका धर्म है। सन्मार्गका सेवन, नित्य उपवास-व्रत और ब्रह्मचर्यका पालन भी धर्म है॥ ३८॥

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक् शुचिः॥ ३९॥

गृहस्थको अग्निस्थापनपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला, स्वाध्यायशील, होमपरायण, जितेन्द्रिय, विघसाशी, मिताहारी, सत्यवादी और पवित्र होना चाहिये॥ ३९॥

अतिथिव्रतता धर्मो धर्मस्त्रेताग्निधारणम्।
इष्टीश्च पशुबन्धांश्च विधिपूर्वं समाचरेत्॥ ४०॥

अतिथि-सत्कार करना और गार्हपत्य आदि त्रिविध अग्नियोंकी रक्षा करना उसके लिये धर्म है। वह नाना प्रकारकी इष्टियों और पशुरक्षाकर्मका भी विधिपूर्वक आचरण करे॥ ४०॥

यज्ञश्च परमो धर्मस्तथाहिंसा च देहिषु।
अपूर्वभोजनं धर्मो विघसाशित्वमेव च॥ ४१॥

यज्ञ करना तथा किसी भी जीवकी हिंसा न करना उसके लिये परम धर्म है। घरमें पहले भोजन न करना तथा विघसाशी होना—कुटुम्बके लोगोंके भोजन करानेके बाद ही अवशिष्ट अन्नका भोजन करना—यह भी उसका धर्म है॥ ४१॥

भुक्ते परिजने पश्चाद् भोजनं धर्म उच्यते।
ब्राह्मणस्य गृहस्थस्य श्रोत्रियस्य विशेषतः॥ ४२॥

जब कुटुम्बीजन भोजन कर लें उसके पश्चात् स्वयं भोजन करना—यह गृहस्थ ब्राह्मणका विशेषतः श्रोत्रियका मुख्य धर्म बताया गया है॥ ४२॥

दम्पत्योः समशीलत्वं धर्मः स्याद् गृहमेधिनः।
गृह्याणां चैव देवानां नित्यपुष्पबलिक्रिया॥ ४३॥
नित्योपलेपनं धर्मस्तथा नित्योपवासिता।

पति और पत्नीका स्वभाव एक-सा होना चाहिये। यह गृहस्थका धर्म है। घरके देवताओंकी प्रतिदिन पुष्पोंद्वारा पूजा करना, उन्हें अन्नकी बलि समर्पित करना, रोज-रोज घर लीपना और प्रतिदिन व्रत रखना भी गृहस्थका धर्म है॥ ४३½॥

सुसम्मृष्टोपलिप्ते च साज्यधूमो भवेद् गृहे॥ ४४॥
एष द्विजजने धर्मो गार्हस्थ्यो लोकधारणः।
द्विजानां च सतां नित्यं सदैवैष प्रवर्तते॥ ४५॥

झाड़-बुहार, लीप-पोतकर स्वच्छ किये हुए घरमें घृतयुक्त आहुति करके उसका धुआँ फैलाना चाहिये। यह ब्राह्मणोंका गार्हस्थ्य धर्म बतलाया, जो संसारकी रक्षा करनेवाला है। अच्छे ब्राह्मणोंके यहाँ सदा ही इस धर्मका पालन किया जाता है॥ ४४-४५॥

यस्तु क्षत्रगतो देवि मया धर्म उदीरितः।
तमहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे शृणु समाहिता॥ ४६॥

देवि! मेरे द्वारा जो क्षत्रिय-धर्म बताया गया है, उसीका अब तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ, तुम मुझसे एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ४६॥

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥ ४७॥

क्षत्रियका सबसे पहला धर्म है प्रजाका पालन करना। प्रजाकी आयके छठे भागका उपभोग करनेवाला राजा धर्मका फल पाता है॥ ४७॥

(क्षत्रियास्तु ततो देवि द्विजानां पालने स्मृताः।
यदि न क्षत्रियो लोके जगत् स्यादधरोत्तरम्॥
रक्षणात् क्षत्रियैरेव जगद् भवति शाश्वतम्।

देवि! क्षत्रिय ब्राह्मणोंके पालनमें तत्पर रहते हैं। यदि संसारमें क्षत्रिय न होता तो इस जगत्में भारी उलट-फेर या विप्लव मच जाता। क्षत्रियोंद्वारा रक्षा होनेसे ही यह जगत् सदा टिका रहता है॥

सम्यग्गुणहितो धर्मो धर्मः पौरहितक्रिया।
व्यवहारस्थितिर्नित्यं गुणयुक्तो महीपतिः॥)

उत्तम गुणोंका सम्पादन और पुरवासियोंका हितसाधन उसके लिये धर्म है। गुणवान् राजा सदा न्याययुक्त व्यवहारमें स्थित रहे॥

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः।
तस्य धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः॥ ४८॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसे उसके प्रजापालनरूपी धर्मके प्रभावसे उत्तम लोक प्राप्त होते हैं॥ ४८॥

तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥ ४९॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता॥ ५०॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुर्क्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा॥ ५१॥

राजाका परम धर्म है—इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्यका सम्पादन, पोष्यवर्गका भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्मको सफल बनाना, अपराधके अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करना, व्यवहारमें न्यायकी रक्षा करना और सत्यभाषणमें अनुरक्त होना। ये सभी कर्म राजाके लिये धर्म ही हैं॥

आर्तहस्तप्रदो राजा प्रेत्य चेह महीयते।
गोब्राह्मणार्थे विक्रान्तः संग्रामे निधनं गतः॥ ५२॥
अश्वमेधजिताँल्लोकानाप्नोति त्रिदिवालये॥ ५३॥

जो राजा दुखी मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, वह इस लोक और परलोकमें भी सम्मानित होता है। गौओं और ब्राह्मणोंको संकटसे बचानेके लिये जो पराक्रम दिखाकर संग्राममें मृत्युको प्राप्त होता है, वह स्वर्गमें अश्वमेध यज्ञोंद्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार जमा लेता है॥ ५२-५३॥

(तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते॥
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।)

देवि! इसी प्रकार वैश्य भी लोगोंकी जीवन-यात्राके निर्वाहमें सहायक माने गये हैं। दूसरे वर्णोंके लोग उन्हींके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं। यदि वैश्य न हों तो दूसरे वर्णके लोग भी न रहें॥

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥ ५४॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥ ५५॥

पशुओंका पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्गका आश्रय लेकर सदाचारका पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणोंका स्वागत और त्याग—ये सब वैश्योंके सनातन धर्म हैं॥ ५४-५५॥

तिलान् गन्धान् रसांश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्यः सत्पथमाश्रितः॥ ५६॥
सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।

व्यापार करनेवाले सदाचारी वैश्यको तिल, चन्दन और रसकी विक्री नहीं करनी चाहिये तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इस त्रिवर्गका सब प्रकारसे यथाशक्ति यथायोग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिये॥

शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु॥ ५७॥
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्॥ ५८॥

शूद्रका परम धर्म है तीनों वर्णोंकी सेवा। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा करनेवाला है, वह महान् तपका संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिये कठोर तप है॥ ५७-५८॥

नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान्॥ ५९॥

नित्य सदाचारका पालन और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाले बुद्धिमान् शूद्रको धर्मका मनोवांछित फल प्राप्त होता है॥ ५९॥

(तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः।
शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते॥

इसी प्रकार शूद्र भी सम्पूर्ण धर्मोंके साधक बताये गये हैं। यदि शूद्र न हों तो सेवाका कार्य करनेवाला कोई नहीं है॥

त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः॥

पहलेके जो तीन वर्ण हैं, वे सब शूद्रमूलक ही हैं, क्योंकि शूद्र ही सेवाका कर्म करनेवाले माने गये हैं। ब्राह्मण आदिकी सेवा ही दास या शूद्रका धर्म माना गया है॥

वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो दैवतद्विजवन्दकः॥

वाणिज्य, कारीगरके कार्य, शिल्प तथा नाट्य भी शूद्रका धर्म है। उसे अहिंसक, सदाचारी और देवताओं तथा ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये॥

शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपयुज्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः॥)

ऐसा शूद्र अपने धर्मसे सम्पन्न और उसके अभीष्ट फलोंका भागी होता है। यह तथा और भी शूद्र-धर्म कहा गया है॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं चातुर्वर्ण्यस्य शोभने।
एकैकस्येह सुभगे किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥ ६०॥

शोभने! इस प्रकार मैंने तुम्हें एक-एक करके चारों वर्णोंका सारा धर्म बतलाया। सुभगे! अब और क्या सुनना चाहती हो?॥ ६०॥

उमोवाच

(भगवन् देवदेवेश नमस्ते वृषभध्वज।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव धर्ममाश्रमिणां विभो॥

उमा बोलीं—भगवन्! देवदेवेश्वर! वृषभध्वज! देव! आपको नमस्कार है। प्रभो! अब मैं आश्रमियोंका धर्म सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तथाश्रमगतं धर्मं शृणु देवि समाहिता।
आश्रमाणां तु यो धर्मः क्रियते ब्रह्मवादिभिः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! एकाग्रचित्त होकर आश्रमधर्मका वर्णन सुनो। ब्रह्मवादी मुनियोंने आश्रमोंका जो धर्म निश्चित किया है, वही यहाँ बताया जा रहा है॥

गृहस्थः प्रवरस्तेषां गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रितः।
पञ्चयज्ञक्रिया शौचं दारतुष्टिरतन्द्रिता॥
ऋतुकालाभिगमनं दानयज्ञतपांसि च।
अविप्रवासस्तस्येष्टः स्वाध्यायश्चाग्निपूर्वकम्॥

आश्रमोंमें गृहस्थ-आश्रम सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह गार्हस्थ्य धर्मपर प्रतिष्ठित है। पंच महायज्ञोंका अनुष्ठान, बाहर-भीतरकी पवित्रता, अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट रहना, आलस्यको त्याग देना, ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करना, दान, यज्ञ और तपस्यामें लगे रहना, परदेश न जाना और अग्निहोत्रपूर्वक वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना—ये गृहस्थके अभीष्ट धर्म हैं॥

तथैव वानप्रस्थस्य धर्माः प्रोक्ताः सनातनाः।
गृहवासं समुत्सृज्य निश्चित्यैकमनाः शुभैः॥
वन्यैरेव सदाहारैर्वर्तयेदिति च स्थितिः।

इसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रमके सनातन धर्म बताये गये हैं। वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छावाला पुरुष एकचित्त होकर निश्चय करनेके पश्चात् घरका रहना छोड़कर वनमें चला जाय और वनमें प्राप्त

होनेवाले उत्तम आहारोंसे ही जीवन-निर्वाह करे। यही उसके लिये शास्त्रविहित मर्यादा है॥

भूमिशय्या जटाश्मश्रुचर्मवल्कलधारणम्॥
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम्।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते॥
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते॥

पृथ्वीपर सोना, जटा और दाढ़ी-मूँछ रखना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करना, महान् कष्ट सहकर भी देवताओंकी पूजा आदिका निर्वाह करना—यह वानप्रस्थ-का नियम है। उसके लिये प्रतिदिन अग्निहोत्र और त्रिकाल-स्नानका विधान है। ब्रह्मचर्य, क्षमा और शौच आदि उसका सनातन धर्म है। ऐसा करनेवाला वानप्रस्थ प्राणत्यागके पश्चात् देवलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥

यतिधर्मास्तथा देवि गृहांस्त्यक्त्वा यतस्ततः।
आकिञ्चन्यमनारम्भः सर्वतः शौचमार्जवम्॥
सर्वत्र भैक्षचर्या च सर्वत्रैव विवासनम्।
सदा ध्यानपरत्वं च दोषशुद्धिः क्षमा दया॥
तत्त्वानुगतबुद्धित्वं तस्य धर्मविधिर्भवेत्।

देवि! यतिधर्म इस प्रकार है। संन्यासी घर छोड़कर इधर-उधर विचरता रहे। वह अपने पास किसी वस्तुका संग्रह न करे। कर्मोंके आरम्भ या आयोजनसे दूर रहे। सब ओरसे पवित्रता और सरलताको वह अपने भीतर स्थान दे। सर्वत्र भिक्षासे जीविका चलावे। सभी स्थानोंसे वह विलग रहे। सदा ध्यानमें तत्पर रहना, दोषोंसे शुद्ध होना, सबपर क्षमा और दयाका भाव रखना तथा बुद्धिको तत्त्वके चिन्तनमें लगाये रखना—ये सब संन्यासीके लिये धर्मकार्य हैं॥

बुभुक्षितं पिपासार्तमतिथिं श्रान्तमागतम्।
अर्चयन्ति वरारोहे तेषामपि फलं महत्॥

वरारोहे! जो भूख-प्याससे पीड़ित और थके-मादे आये हुए अतिथिकी सेवा-पूजा करते हैं, उन्हें भी महान् फलकी प्राप्ति होती है॥

पात्रमित्येव दातव्यं सर्वस्मै धर्मकाङ्क्षिभिः।
आगमिष्यति यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति॥

धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि अपने घरपर आये हुए सभी अतिथियोंको दानका उत्तम पात्र समझकर दान दें। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि आज जो पात्र आयेगा, वह हमारा उद्धार कर देगा।

काले सम्प्राप्तमतिथिं भोक्तुकाममुपस्थितम्।
यस्तं सम्भावयेत् तत्र व्यासोऽयं समुपस्थितः॥

समयपर भोजनकी इच्छासे आये अथवा उपस्थित हुए अतिथिका जो समादर करता है, वहाँ ये साक्षात् भगवान् व्यास उपस्थित होते हैं॥

तस्य पूजां यथाशक्त्या सौम्यचित्तः प्रयोजयेत्।
चित्तमूलो भवेद् धर्मो धर्ममूलं भवेद् यशः॥

अतः कोमलचित्त होकर उस अतिथिकी यथा-शक्ति पूजा करनी चाहिये; क्योंकि धर्मका मूल है चित्तका विशुद्ध भाव और यशका मूल है धर्म॥

तस्मात् सौम्येन चित्तेन दातव्यं देवि सर्वथा।
सौम्यचित्तस्तु यो दद्यात् तद्धि दानमनुत्तमम्॥

अतः देवि! सर्वथा सौम्यचित्तसे दान देना चाहिये; क्योंकि जो सौम्यचित्त होकर दान देता है, उसका वह दान सर्वोत्तम होता है॥

यथाम्बुबिन्दुभिः सूक्ष्मैः पतद्भिर्मेदिनीतले।
केदाराश्च तटाकानि सरांसि सरितस्तथा॥
तोयपूर्णानि दृश्यन्ते अप्रतर्क्यानि शोभने।
अल्पमल्पमपि ह्येकं दीयमानं विवर्धते॥

शोभने! जैसे भूतलपर वर्षाके समय गिरती हुई जलकी छोटी-छोटी बूँदोंसे ही खेतोंकी क्यारियाँ, तालाब, सरोवर और सरिताएँ अतर्क्य भावसे जलपूर्ण दिखायी देती हैं, उसी प्रकार एक-एक करके थोड़ा-थोड़ा दिया हुआ दान भी बढ़ जाता है॥

पीडयापि च भृत्यानां दानमेव विशिष्यते।
पुत्रदारधनं धान्यं न मृताननुगच्छति॥

भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंको थोड़ा-सा कष्ट देकर भी यदि दान किया जा सके तो दान ही श्रेष्ठ माना गया है। स्त्री-पुत्र, धन और धान्य—ये वस्तुएँ मरे हुए पुरुषोंके साथ नहीं जाती हैं॥

श्रेयो दानं च भोगश्च धनं प्राप्य यशस्विनी।
दानेन हि महाभागा भवन्ति मनुजाधिपाः॥
नास्ति भूमौ दानसमं नास्ति दानसमो निधिः।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥

यशस्विनी! धन पाकर उसका दान और भोग करना भी श्रेष्ठ है; परंतु दान करनेसे मनुष्य महान् सौभाग्यशाली नरेश होते हैं। इस पृथ्वीपर दानके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। दानके समान कोई निधि नहीं है। सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पातक नही है॥

आश्रमे यस्तु तप्येत तपो मूलफलाशनः।
आदित्याभिमुखो भूत्वा जटावल्कलसंवृतः॥
मण्डूकशायी हेमन्ते ग्रीष्मे पञ्चतपा भवेत्।
सम्यक् तपश्चरन्तीह श्रद्दधाना वनाश्रमे॥
गृहाश्रमस्य ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम्।

जो वानप्रस्थ आश्रममें फल-मूल खाकर जटा बढ़ाये, वल्कल पहने, सूर्यकी ओर मुँह करके तपस्या करता है, हेमन्त-ऋतुमें मेढककी भाँति जलमें सोता है और ग्रीष्म-ऋतुमें पंचाग्निका ताप सहन करता है। इस प्रकार जो लोग वानप्रस्थ आश्रममें रहकर श्रद्धापूर्वक उत्तम तप करते हैं, वे भी गृहस्थाश्रमके पालनसे होनेवाले धर्मकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते॥

उमोवाच

गृहाश्रमस्य या चर्या व्रतानि नियमाश्च ये॥
यथा च देवताः पूज्याः सततं गृहमेधिना।
यद् यच्च परिहर्तव्यं गृहिणा तिथिपर्वसु॥
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि कथ्यमानं त्वया विभो।

उमाने कहा—प्रभो! गृहस्थाश्रमका जो आचार है, जो व्रत और नियम हैं, गृहस्थको सदा जिस प्रकारसे देवताओंकी पूजा करनी चाहिये तथा तिथि और पर्वोंके दिन उसे जिस-जिस वस्तुका त्याग करना चाहिये, वह सब मैं आपके मुखसे सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

गृहाश्रमस्य यन्मूलं फलं धर्मोऽयमुत्तमः॥
पादैश्चतुर्भिः सततं धर्मो यत्र प्रतिष्ठितः।
सारभूतं वरारोहे दध्नो घृतमिवोद्धृतम्॥
तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रूयतां धर्मचारिणि।

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! गृहस्थ-आश्रमका जो मूल और फल है, यह उत्तम धर्म जहाँ अपने चारों चरणोंसे सदा विराजमान रहता है, वरारोहे! जैसे दहीसे घी निकाला जाता है, उसी प्रकार जो सब धर्मोंका सारभूत है, उसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ। धर्मचारिणि! सुनो॥

शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे॥
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः।
तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः॥
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते।

जो लोग गृहस्थ-आश्रममें रहकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है तथा जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र कर्म करते हैं, उन सबपर इन्द्र आदि देवता, पितृलोकनिवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्मसे आनन्दित होता है॥

उमोवाच

मातापितृवियुक्तानां का चर्या गृहमेधिनाम्॥
विधवानां च नारीणां भवानेतद् ब्रवीतु मे।

उमाने पूछा—जिन गृहस्थोंके माता-पिता न हों, उनकी अथवा विधवा स्त्रियोंकी जीवनचर्या क्या होनी चाहिये? यह मुझे बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवतातिथिशुश्रूषा गुरुवृद्धाभिवादनम्॥
अहिंसा सर्वभूतानामलोभः सत्यसंधता।
ब्रह्मचर्यं शरण्यत्वं शौचं पूर्वाभिभाषणम्॥
कृतज्ञत्वमपैशुन्यं सततं धर्मशीलता।
दिने द्विरभिषेकं च पितृदैवतपूजनम्॥
गवाह्निकप्रदानं च संविभागोऽतिथिष्वपि।
दीपं प्रतिश्रयं चैव दद्यात् पाद्यासनं तथा॥
पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा द्वादशेऽप्यष्टमेऽपि वा।
चतुर्दशे पञ्चदशे ब्रह्मचारी सदा भवेत्॥
श्मश्रुकर्म शिरोऽभ्यङ्गमञ्जनं दन्तधावनम्।
नैतेष्वहस्सु कुर्वीत तेषु लक्ष्मीः प्रतिष्ठिता॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवता और अतिथियोंकी सेवा, गुरुजनों तथा वृद्ध पुरुषोंका अभिवादन, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, लोभको त्याग देना, सत्यप्रतिज्ञ होना, ब्रह्मचर्य, शरणागतवत्सलता, शौचाचार, पहले बातचीत करना, उपकारीके प्रति कृतज्ञ होना, किसीकी चुगली न खाना, सदा धर्मशील रहना, दिनमें दो बार स्नान करना, देवता और पितरोंका पूजन करना, गौओंको प्रतिदिन अन्नका ग्रास और घास देना, अतिथियोंको विभागपूर्वक भोजन देना, दीप, ठहरनेके लिये स्थान तथा पाद्य और आसन देना, पंचमी, षष्ठी, द्वादशी, अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमाको सदा ब्रह्मचर्यका पालन करना, इन तिथियोंपर मूँछ मुड़ाने, सिरमें तेल लगाने, आँखमें अंजन करने तथा दाँतुन करने एवं दाँत धोने आदिका कार्य न करे। जो इन विधि-निषेधोंका पालन करते हैं, उनके यहाँ लक्ष्मी प्रतिष्ठित होती हैं॥

व्रतोपवासनियमस्तपो दानं च शक्तितः।
भरणं भृत्यवर्गस्य दीनानामनुकम्पनम्॥
परदारनिवृत्तिश्च स्वदारेषु रतिः सदाः।

व्रत और उपवासका नियम पालना, तपस्या करना, यथाशक्ति दान देना, पोष्यवर्गका पोषण करना, दीनोंपर

कृपा रखना, परायी स्त्रीसे दूर रहना तथा सदा ही अपनी स्त्रीसे प्रेम रखना गृहस्थका धर्म है॥

शरीरमेकं दम्पत्योर्विधात्रा पूर्वनिर्मितम्॥
तस्मात् स्वदारनिरतो ब्रह्मचारी विधीयते।

विधाताने पूर्वकालमें पति-पत्नीका एक ही शरीर बनाया था; अतः अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी माना जाता है॥

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च॥
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।

जो शील और सदाचारसे विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखा है, जो सरलतापूर्वक बर्ताव करता है और समस्त प्राणियोंका हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थके लिये अन्य आश्रमोंकी क्या आवश्यकता है?॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं॥

राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रङ्गोपजीविनः॥
व्यालग्रहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः॥
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम्॥

राजा, पाखण्डी, नट, सपेरा, दम्भ, चोर, राजपुरुष, विद्वान्, सम्पूर्ण शीलोंके जानकार, सभी संशयालु तथा दूरके रास्तेपर आये हुए पाथेयरहित राही—ये तथा और भी बहुत-से मनुष्य गृहस्थ-आश्रमपर ही ताक लगाये रहते हैं॥

मार्जारा मूषिकाः श्वानः सूकराश्च शुकास्तथा।
कपोतका कर्कटकाः सरीसृपनिषेवणाः॥
अरण्यवासिनश्चान्ये सङ्घा ये मृगपक्षिणाम्।
एवं बहुविधा देवि लोकेऽस्मिन् सचराचराः॥
गृहे क्षेत्रे बिले चैव शतशोऽथ सहस्रशः।
गृहस्थेन कृतं कर्म सर्वैस्तैरिह भुज्यते॥

देवि! चूहे, बिल्ली, कुत्ते, सुअर, तोते, कबूतर, कर्कटक (काक आदि), सरीसृपसेवी—ये तथा और भी बहुत-से मृग-पक्षियोंके वनवासी समुदाय हैं तथा इसी तरह इस जगत्में जो नाना प्रकारके सैकड़ों और हजारों चराचर प्राणी घर, क्षेत्र और बिलमें निवास करते हैं, वे सब-के-सब यहाँ गृहस्थके किये हुए कर्मको ही भोगते हैं॥

उपयुक्तं च यत् तेषां मतिमान् नानुशोचति।
धर्म इत्येव संकल्प्य यस्तु तस्य फलं शृणु॥

जो वस्तु उनके उपयोगमें आ गयी, उसके लिये जो बुद्धिमान् पुरुष कभी शोक नहीं करता, इन सबका पालन करना धर्म ही है, ऐसा समझकर संतुष्ट रहता है, उसे मिलनेवाले फलका वर्णन सुनो॥

सर्वयज्ञप्रणीतस्य हयमेधेन यत् फलम्।
वर्षे स द्वादशे देवि फलेनैतेन युज्यते॥)

देवि! जो सम्पूर्ण यज्ञोंका सम्पादन कर चुका है, उसे अश्वमेधयज्ञसे जो फल मिलता है, वही फल इस गृहस्थको बारह वर्षोंतक पूर्वोक्त नियमोंका पालन करनेसे प्राप्त हो जाता है॥

उमोवाच

उक्तस्त्वया पृथग्धर्मश्चातुर्वर्ण्यहितः शुभः।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तद् ब्रवीहि मे॥ ६१॥

उमाने कहा—भगवन्! आपने चारों वर्णोंके लिये हितकारी एवं शुभ धर्मका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। अब मुझे वह धर्म बतलाइये, जो सब वर्णोंके लिये समानरूपसे उपयोगी हो॥ ६१॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणा लोकसारेण सृष्टा धात्रा गुणार्थिना।
लोकांस्तारयितुं कृत्स्नान् मर्त्येषु क्षितिदेवताः॥ ६२॥
तेषामपि प्रवक्ष्यामि धर्मकर्मफलोदयम्।
ब्राह्मणेषु हि यो धर्मः स धर्मः परमो मतः॥ ६३॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! गुणोंकी अभिलाषा रखनेवाले जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने समस्त लोकोंका उद्धार करनेके लिये जगत्की सार वस्तुद्वारा मृत्युलोकमें ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है। ब्राह्मण इस भूमण्डलके देवता हैं, अतः पहले उनके ही धर्म-कर्म और उनके फलोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि ब्राह्मणोंमें जो धर्म होता है, उसे ही परम धर्म माना जाता है॥ ६२-६३॥

इमे ते लोकधर्मार्थं त्रयः सृष्टाः स्वयम्भुवा।
पृथिव्यां सर्जने नित्यं सृष्टांस्तानपि मे शृणु॥ ६४॥

ब्रह्माजीने सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके लिये तीन प्रकारके धर्मका विधान किया है। पृथ्वीकी सृष्टिके साथ ही इन

तीनों धर्मोंकी सृष्टि हो गयी है, इनको भी तुम मुझसे सुनो॥ ६४॥

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥ ६५॥

पहला है वेदोक्त धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट धर्म है। दूसरा है वेदानुकूल स्मृति-शास्त्रमें वर्णित—स्मार्तधर्म और तीसरा है शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म (शिष्टाचार)। ये तीनों धर्म सनातन हैं॥ ६५॥

त्रैविद्यो ब्राह्मणो विद्वान् न चाध्ययनजीवकः।
त्रिकर्मा त्रिपरिक्रान्तो मैत्र एष स्मृतो द्विजः॥ ६६॥

जो तीनों वेदोंका ज्ञाता और विद्वान् हो; पढ़ने-पढ़ानेका काम करके जीविका न चलाता हो; दान, धर्म और यज्ञ—इन तीन कर्मोंका सदा अनुष्ठान करता हो; काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों दोषोंका त्याग कर चुका हो और सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखता हो—ऐसा पुरुष ही वास्तवमें ब्राह्मण माना गया है॥ ६६॥

षडिमानि तु कर्माणि प्रोवाच भुवनेश्वरः।
वृत्त्यर्थं ब्राह्मणानां वै शृणु धर्मान् सनातनान्॥ ६७॥

सम्पूर्ण भुवनोंके स्वामी ब्रह्माजीने ब्राह्मणोंकी जीविकाके लिये ये छः कर्म बताये हैं; जो उनके लिये सनातन धर्म हैं। इनके नाम सुनो॥ ६७॥

यजनं याजनं चैव तथा दानप्रतिग्रहौ।
अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मा धर्मभाग् द्विजः॥ ६८॥

यजन-याजन (यज्ञ करना-कराना), दान देना, दान लेना, वेद पढ़ना और वेद पढ़ाना। इन छः कर्मोंका आश्रय लेनेवाला ब्राह्मण धर्मका भागी होता है॥ ६८॥

नित्यः स्वाध्यायिता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि॥ ६९॥

इनमें भी सदा स्वाध्यायशील होना ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, यज्ञ करना सनातन धर्म है और अपनी शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक दान देना उसके लिये प्रशस्त धर्म है॥

शमस्तूपरमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः।
गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान्॥ ७०॥

सब प्रकारके विषयोंसे उपरत होना शम कहलाता है। यह सत्पुरुषोंमें सदा दृष्टिगोचर होता है। इसका पालन करनेसे शुद्ध चित्तवाले गृहस्थोंको महान् धर्म-राशिकी प्राप्ति होती है॥ ७०॥

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंसृष्टनिवेशनः॥ ७१॥
अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः॥ ७२॥
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा।
दीपं प्रतिश्रयं चैव यो ददाति स धार्मिकः॥ ७३॥

गृहस्थ पुरुषको पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने मनको शुद्ध बनाना चाहिये। जो गृहस्थ सदा सत्य बोलता, किसीके दोष नहीं देखता, दान देता, ब्राह्मणोंका सत्कार करता, अपने घरको झाड़-बुहारकर साफ रखता, अभिमानको त्याग देता, सदा सरल भावसे रहता, स्नेहयुक्त वचन बोलता, अतिथि और अभ्यागतोंकी सेवामें मन लगाता, यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता और अतिथिको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक तथा ठहरनेके लिये गृह प्रदान करता है, उसे धार्मिक समझना चाहिये॥ ७१—७३॥

प्रातरुत्थाय चाचम्य भोजनेनोपमन्त्र्य च।
सत्कृत्यानुव्रजेद् यस्तु तस्य धर्मः सनातनः॥ ७४॥

जो प्रातःकाल उठकर आचमन करके ब्राह्मणोंको भोजनके लिये निमन्त्रण देता और उसे ठीक समयपर सत्कारपूर्वक भोजन करानेके बाद कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाता है, उसके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है॥ ७४॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति निशानिशम्।
शूद्रधर्मः समाख्यातस्त्रिवर्गपरिचारणम्॥ ७५॥

शूद्र गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार तीनों वर्णोंका निरन्तर सब प्रकारसे आतिथ्य-सत्कार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंकी परिचर्यामें रहना उसके लिये प्रधान धर्म बतलाया गया है॥ ७५॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम्॥ ७६॥

प्रवृत्तिरूप धर्मका विधान गृहस्थोंके लिये किया गया है। वह सब प्राणियोंका हितकारी और शुभ है। अब मैं उसीका वर्णन करता हूँ॥ ७६॥

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत् तथा।
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥ ७७॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको सदा अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये। सदा यज्ञ करना चाहिये और सदा ही पुष्टिजनक कर्म करते रहना चाहिये।

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम्।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः॥ ७८॥

मनुष्यको धर्मके द्वारा धनका उपार्जन करना चाहिये। धर्मसे उपार्जित हुए धनके तीन भाग करने चाहिये और प्रयत्नपूर्वक धर्मप्रधान कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये॥ ७८॥

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता।
एकेनांशेन कामार्थं एकमंशं विवर्धयेत्॥ ७९॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको धनके उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भागके द्वारा धर्म और अर्थकी सिद्धि करनी चाहिये। दूसरे भागको उपभोगमें लगाना चाहिये और तीसरे अंशको बढ़ाना चाहिये (प्रवृत्तिधर्मका वर्णन किया गया है)॥ ७९॥

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे देवि तत्त्वतः॥ ८०॥

इससे भिन्न निवृत्तिरूप धर्म है। वह मोक्षका साधन है। देवि! मैं यथार्थरूपसे उसका स्वरूप बताता हूँ, उसे सुनो॥ ८०॥

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकाङ्क्षिणाम्॥ ८१॥

मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। यही उनका धर्म है। उन्हें सदा एक ही गाँवमें नहीं रहना चाहिये और अपने आशारूपी बन्धनोंको तोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये। यही मुमुक्षुके लिये प्रशंसाकी बात है॥ ८१॥

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये॥ ८२॥

मोक्षाभिलाषी पुरुषको न तो कुटीमें आसक्ति रखनी चाहिये न जलमें, न वस्त्रमें, न आसनमें; न त्रिदण्डमें, न शय्यामें, न अग्निमें और न किसी निवासस्थानमें ही आसक्त होना चाहिये॥ ८२॥

अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च॥ ८३॥

मुमुक्षुको अध्यात्मज्ञानका ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसे उसीमें सदा स्थित रहना चाहिये। निरन्तर योगाभ्यासमें प्रवृत्त होकर तत्त्वका विचार करते रहना चाहिये॥ ८३॥

वृक्षमूलपरो नित्यं शून्यागारनिवेशनः।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः॥ ८४॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्जेत वै द्विजः॥ ८५॥

संन्यासी द्विजको उचित है कि वह सब प्रकारकी आसक्तियों और स्नेहबन्धनोंसे मुक्त होकर सर्वदा वृक्षके नीचे, सूने घरमें अथवा नदीके किनारे रहता हुआ अपने अन्तःकरणमें ही परमात्माका ध्यान करे॥ ८४-८५॥

स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा।
परिव्रजेति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः॥ ८६॥

जो युक्तचित्त होकर संन्यासी होता है और मोक्षोपयोगी कर्म श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा समय व्यतीत करता हुआ निराहार (विषयसेवनसे रहित) और ठूठे काठकी भाँति स्थिर रहता है, उसको सनातन धर्मका मोक्षरूप धर्म प्राप्त होता है॥ ८६॥

न चैकत्र समासक्तो न चैकग्रामगोचरः।
मुक्तो ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः॥ ८७॥

संन्यासी किसी एक स्थानमें आसक्ति न रखे, एक ही ग्राममें न रहे तथा किसी एक ही किनारेपर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिये॥ ८७॥

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते॥ ८८॥

यह मोक्षधर्मके ज्ञाता सत्पुरुषोंका वेदप्रतिपादित धर्म एवं सन्मार्ग है। जो इस मार्गपर चलता है, उसको ब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है॥ ८८॥

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥ ८९॥

संन्यासी चार प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है॥ ८९॥

अतः परतरं नास्ति नावरं न तिरोग्रतः।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम्॥ ९०॥

इस परमहंस धर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले आत्म-ज्ञानसे बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। यह परमहंस-ज्ञान किसीसे निष्कृष्ट नहीं है। परमहंस-ज्ञानके सम्मुख परमात्मा तिरोहित नहीं है। यह दुःख-सुखसे रहित सौम्य अजर-अमर और अविनाशी पद है॥ ९०॥

उमोवाच

गार्हस्थ्यो मोक्षधर्मश्च सज्जनाचरितस्त्वया।
भाषितो जीवलोकस्य मार्गः श्रेयस्करो महान्॥ ९१॥

उमा बोलीं—भगवन्! आपने सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए गार्हस्थ्यधर्म और मोक्षधर्मका वर्णन किया। ये दोनों ही मार्ग जीवजगत्का महान् कल्याण करनेवाले हैं॥ ९१॥

ऋषिधर्मं तु धर्मज्ञ श्रोतुमिच्छाम्यतः परम्।
स्पृहा भवति मे नित्यं तपोवननिवासिषु॥ ९२॥

धर्मज्ञ! अब मैं ऋषिधर्म सुनना चाहती हूँ। तपोवननिवासी मुनियोंके प्रति सदा ही मेरे मनमें

स्नेह बना रहता है॥ ९२॥

आज्यधूमोद्भवो गन्धो रुणद्धीव तपोवनम्।
तं दृष्ट्वा मे मनः प्रीतं महेश्वर सदा भवेत्॥ ९३॥

महेश्वर! ये ऋषिलोग जब अग्निमें घीकी आहुति देते हैं, उस समय उसके धूमसे प्रकट हुई सुगन्ध मानो सारे तपोवनमें छा जाती है। उसे देखकर मेरा चित्त सदा प्रसन्न रहता है॥ ९३॥

एतन्मे संशयं देव मुनिधर्मकृतं विभो।
सर्वधर्मार्थतत्त्वज्ञ देवदेव वदस्व मे।
निखिलेन मया पृष्टं महादेव यथातथम्॥ ९४॥

विभो! देव! यह मैंने मुनिधर्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट की है। देवदेव! आप सम्पूर्ण धर्मोंका तत्त्व जाननेवाले हैं, अतः महादेव! मैंने जो कुछ पूछा है, उसका पूर्णरूपसे यथावत् वर्णन कीजिये॥ ९४॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि मुनिधर्ममनुत्तमम्।
यं कृत्वा मुनयो यान्ति सिद्धिं स्वतपसा शुभे॥ ९५॥

श्रीभगवान् शिव बोले— शुभे! तुम्हारे इस प्रश्नसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। अब मैं मुनियोंके सर्वोत्तम धर्मका वर्णन करता हूँ, जिसका पालन करके वे अपनी तपस्याके द्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं॥

फेनपानामृषीणां यो धर्मो धर्मविदां सताम्।
तन्मे शृणु महाभागे धर्मज्ञे धर्ममादितः॥ ९६॥

महाभागे! धर्मज्ञे! सबसे पहले धर्मवेत्ता साधुपुरुष फेनप ऋषियोंका जो धर्म है, उसीका मुझसे वर्णन सुनो॥

उञ्छन्ति सततं ये ते ब्राह्म्यं फेनोत्करं शुभम्।
अमृतं ब्रह्मणा पीतमध्वरे प्रसृतं दिवि॥ ९७॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने यज्ञ करते समय जिसका पान किया तथा जो स्वर्गमें फैला हुआ है, वह अमृत (ब्रह्माजीके द्वारा पीया गया इसलिये) ब्राह्म कहलाता है। उसके फेनको जो थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सदा पान करते हैं (और उसीके आधारपर जीवन-निर्वाह करके तपस्यामें लगे रहते हैं,) वे फेनप* कहलाते हैं॥ ९७॥

एष तेषां विशुद्धानां फेनपानां तपोधने।
धर्मचर्याकृतो मार्गो बालखिल्यगणैः शृणु॥ ९८॥

तपोधने! यह धर्माचरणका मार्ग उन विशुद्ध फेनप महात्माओंका ही मार्ग है। अब बालखिल्य नामवाले ऋषिगणोंद्वारा जो धर्मका मार्ग बताया गया है, उसको सुनो॥ ९८॥

वालखिल्यास्तपःसिद्धा मुनयः सूर्यमण्डले।
उञ्छे तिष्ठन्ति धर्मज्ञाः शाकुनीं वृत्तिमास्थिताः॥ ९९॥

वालखिल्यगण तपस्यासे सिद्ध हुए मुनि हैं। वे सब धर्मोंके ज्ञाता हैं और सूर्यमण्डलमें निवास करते हैं। वहाँ वे उञ्छवृत्तिका आश्रय ले पक्षियोंकी भाँति एक-एक दाना बीनकर उसीसे जीवन-निर्वाह करते हैं॥ ९९॥

मृगनिर्मोकवसनाश्चीरवल्कलवाससः ।
निर्द्वन्द्वाःसत्पथं प्राप्ता वालखिल्यास्तपोधनाः॥ १००॥

मृगछाला, चीर और वल्कल—ये ही उनके वस्त्र हैं। वे बालखिल्य शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, सन्मार्गपर चलनेवाले और तपस्याके धनी हैं॥ १००॥

अङ्गुष्ठपर्वमात्रा ये भूत्वा स्वे स्वे व्यवस्थिताः।
तपश्चरणमीहन्ते तेषां धर्मफलं महत्॥ १०१॥

उनमेंसे प्रत्येकका शरीर अंगूठेके सिरेके बराबर है। इतने लघुकाय होनेपर भी वे अपने-अपने कर्तव्यमें स्थित हो सदा तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनके धर्मका फल महान् है॥ १०१॥

ते सुरैः समतां यान्ति सुरकार्यार्थसिद्धये।
द्योतयन्ति दिशः सर्वास्तपसा दग्धकिल्बिषाः॥ १०२॥

वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उनके समान रूप धारण करते हैं। वे तपस्यासे सम्पूर्ण पापोंको दग्ध करके अपने तेजसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं॥ १०२॥

ये त्वन्ये शुद्धमनसो दयाधर्मपरायणाः।
सन्तश्चक्रचराः पुण्याः सोमलोकचराश्च ये॥ १०३॥
पितृलोकसमीपस्थास्त उञ्छन्ति यथाविधि।

इनके अतिरिक्त दूसरे भी बहुत-से शुद्धचित्त, दयाधर्मपरायण एवं पुण्यात्मा संत हैं, जिनमें कुछ चक्रचर (चक्रके समान विचरनेवाले), कुछ सोमलोकमें रहनेवाले तथा कुछ पितृलोकके निकट निवास करनेवाले हैं। ये सब शास्त्रीय विधिके अनुसार उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते हैं॥ १०३½॥

सम्प्रक्षालाश्मकुट्टाश्च दन्तोलूखलिकाश्च ते॥ १०४॥
सोमपानां च देवानामूष्मपाणां तथैव च।
उञ्छन्ति ये समीपस्थाः सदारा नियतेन्द्रियाः॥ १०५॥

---

* कुछ लोग दूध पीनेके समय बछड़ोंके मुँहमें लगे हुए फेनको ही वह अमृत मानते हैं. उसीका पान करनेवाले उनके मतमें फेनप हैं। आचार्य नीलकण्ठ अन्नके अग्रभाग (रसोईसे निकाले गये अग्राशन) को फेन और उसका उपयोग करनेवालेको फेनप कहते हैं।

कोई ऋषि सम्प्रक्षाल[1], कोई अश्मकुट्ट[2] और कोई दन्तोलूखलिक[3] हैं। ये लोग सोमप (चन्द्रमाकी किरणोंका पान करनेवाले) और उष्णप (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले) देवताओंके निकट रहकर अपनी स्त्रियों-सहित उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते और इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं॥ १०४-१०५॥

तेषामग्निपरिस्पन्दः पितॄणां चार्चनं तथा।
यज्ञानां चैव पञ्चानां यजनं धर्म उच्यते॥ १०६॥

अग्निहोत्र, पितरोंका पूजन (श्राद्ध) और पंचमहा-यज्ञोंका अनुष्ठान यह उनका मुख्य धर्म कहा जाता है॥

एष चक्रचरैर्देवि देवलोकचरैर्द्विजैः।
ऋषिधर्मः सदा चीर्णो योऽन्यस्तमपि मे शृणु॥ १०७॥

देवि! चक्रकी तरह विचरनेवाले और देवलोकमें निवास करनेवाले पूर्वोक्त ब्राह्मणोंने इस ऋषिधर्मका सदा ही अनुष्ठान किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा भी जो ऋषियोंका धर्म है, उसे मुझसे सुनो॥ १०७॥

सर्वेष्वेवर्षिधर्मेषु ज्ञेयोऽऽत्मा संयतेन्द्रियैः।
कामक्रोधौ ततः पश्चाज्जेतव्याविति मे मतिः॥ १०८॥

सभी आर्षधर्मोंमें इन्द्रियसंयमपूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। फिर काम और क्रोधको भी जीतना चाहिये। ऐसा मेरा मत है॥ १०८॥

अग्निहोत्रपरिस्पन्दो धर्मरात्रिसमासनम्।
सोमयज्ञाभ्यनुज्ञानं पञ्चमी यज्ञदक्षिणा॥ १०९॥

प्रत्येक ऋषिके लिये अग्निहोत्रका सम्पादन, धर्मसत्रमें स्थिति, सोमयज्ञका अनुष्ठान, यज्ञविधिका ज्ञान और यज्ञमें दक्षिणा देना—इन पाँच कर्मोंका विधान आवश्यक है॥ १०९॥

नित्यं यज्ञक्रिया धर्मः पितृदेवार्चने रतिः।
सर्वातिथ्यं च कर्तव्यमन्नेनोञ्छार्जितेन वै॥ ११०॥

नित्य यज्ञका अनुष्ठान और धर्मका पालन करना चाहिये। देवपूजा और श्राद्धमें प्रीति रखना चाहिये। उञ्छवृत्तिसे उपार्जित किये हुए अन्नके द्वारा सबका आतिथ्य-सत्कार करना ऋषियोंका परम कर्तव्य है॥

निवृत्तिरुपभोगेषु गोरसानां शमे रतिः।
स्थण्डिले शयने योगः शाकपर्णनिषेवणम्॥ १११॥
फलमूलाशनं वायुरापः शैवलभक्षणम्।
ऋषीणां नियमा ह्येते यैर्जयन्त्यजितां गतिम्॥ ११२॥

विषयभोगोंसे निवृत्त रहना, गोरसका आहार करना, शमके साधनमें प्रेम रखना, खुले मैदान चबूतरेपर सोना, योगका अभ्यास करना, साग-पातका सेवन करना, फल-मूल खाकर रहना, वायु, जल और सेवारका आहार करना—ये ऋषियोंके नियम हैं। इनका पालन करनेसे वे अजित—सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त करते हैं॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके॥ ११३॥
अतिथिं काङ्क्षमाणो वै शेषान्नकृतभोजनः।
सत्यधर्मरतः शान्तो मुनिधर्मेण युज्यते॥ ११४॥
न स्तम्भी न च मानी स्यान्नाप्रसन्नो न विस्मितः।
मित्रामित्रसमो मैत्रो यः स धर्मविदुत्तमः॥ ११५॥

जब गृहस्थोंके यहाँ रसोईघरका धुआँ निकलना बंद हो जाय, मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न आये—सन्नाटा छाया रहे, चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर चुकें, बर्तनोंका इधर-उधर ले जाया जाना रुक जाय और भिक्षुक भीख माँगकर लौट गये हों, ऐसे समयतक ऋषिको अतिथियोंकी बाट जोहनी चाहिये और उसके बचे-खुचे अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेसे सत्यधर्ममें अनुराग रखनेवाला शान्त पुरुष मुनिधर्मसे युक्त होता है अर्थात् उसे मुनिधर्मके पालनका फल मिलता है। जिसे गर्व और अभिमान नहीं है, जो अप्रसन्न और विस्मित नहीं होता, शत्रु और मित्रको समान समझता तथा सबके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, वही धर्मवेत्ताओंमें उत्तम ऋषि है॥ ११३—११५॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०६½ श्लोक मिलाकर कुल २२१½ श्लोक हैं)

१-जो भोजनके पश्चात् पात्रको धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे दिनके लिये कुछ भी नहीं बचाते हैं, उन्हें सम्प्रक्षाल कहते हैं।

२-पत्थरसे फोड़कर खानेवालेको अश्मकुट्ट कहते हैं।

३-जो दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं अर्थात् अन्नको ओखलीमें न कूटकर दाँतोंसे ही चबाकर खाते हैं वे दन्तोलूखलिक कहलाते हैं।

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

उमा-महेश्वर-संवाद, वानप्रस्थ-धर्म तथा उसके पालनकी विधि और महिमा

उमोवाच

देशेषु रमणीयेषु नदीनां निर्झरेषु च।
स्रवन्तीनां निकुञ्जेषु पर्वतेषु वनेषु च॥ १॥
देशेषु च पवित्रेषु फलवत्सु समाहिताः।
मूलवत्सु च मेध्येषु वसन्ति नियतव्रताः॥ २॥

पार्वतीने कहा—भगवन्! नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले एकाग्रचित्त वानप्रस्थी महात्मा नदियोंके रमणीय तटप्रदेशोंमें, झरनोंमें, सरिताओंके तटवर्ती निकुंजोंमें, पर्वतोंपर, वनोंमें और फल-मूलसे सम्पन्न पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं॥ १-२॥

तेषामपि विधिं पुण्यं श्रोतुमिच्छामि शङ्कर।
वानप्रस्थेषु देवेश स्वशरीरोपजीविषु॥ ३॥

कल्याणकारी देवेश्वर! वानप्रस्थी महात्मा अपने शरीरको ही कष्ट पहुँचाकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः उनके पालन करनेयोग्य जो पवित्र कर्तव्य या नियम है, उसीको मैं सुनना चाहती हूँ॥ ३॥

श्रीमहेश्वर उवाच

वानप्रस्थेषु यो धर्मस्तं मे शृणु समाहिता।
श्रुत्वा चैकमना देवि धर्मबुद्धिपरा भव॥ ४॥

भगवान् महेश्वरने कहा—देवि! (गृहस्थ एवं) वानप्रस्थोंका जो धर्म है, उसको मुझसे एकाग्रचित्त होकर सुनो और सुनकर एकचित्त हो अपनी बुद्धिको धर्ममें लगाओ॥ ४॥

संसिद्धैर्नियमैः सद्भिर्वनवासमुपागतैः।
वानप्रस्थैरिदं कर्म कर्तव्यं शृणु यादृशम्॥ ५॥

नियमोंका पालन करके सिद्ध हुए वनवासी साधु वानप्रस्थोंको यह कर्म करना चाहिये। कैसा कर्म? यह बताता हूँ, सुनो॥ ५॥

(भूत्वा पूर्वं गृहस्थस्तु पुत्रानृण्यमवाप्य च।
कलत्रकार्यं संतृप्य कारणात् संत्यजेद् गृहम्॥

मनुष्य पहले गृहस्थ होकर पुत्रोंके उत्पादन-द्वारा पितरोंके ऋणसे उऋण हो पत्नीसे सम्पन्न होनेवाले कार्यकी पूर्ति करके धर्मसम्पादनके लिये गृहका परित्याग कर दे॥

अवस्थाप्य मनो धृत्या व्यवसायपुरस्सरः।
निर्द्वन्द्वो वा सदारो वा वनवासाय सव्रजेत्॥

मनको धैर्यपूर्वक स्थिर करके मनुष्य दृढ़ निश्चयके साथ निर्द्वन्द्व (एकाकी) होकर अथवा स्त्रीको साथ रखकर वनवासके लिये प्रस्थान करे॥

देशाः परमपुण्या ये नदीवनसमन्विताः।
अबोधमुक्ताः प्रायेण तीर्थायतनसंयुताः॥
तत्र गत्वा विधिं ज्ञात्वा दीक्षां कुर्याद् यथाक्रमम्।
दीक्षित्वैकमना भूत्वा परिचर्यां समाचरेत्॥

नदी और वनसे युक्त जो परम पुण्यमय प्रदेश हैं, वे प्रायः अज्ञानसे मुक्त और तीर्थों तथा देवस्थानोंसे सुशोभित हैं। उनमें जाकर विधिका ज्ञान प्राप्त करके क्रमशः ऋषिधर्मकी दीक्षा ग्रहण करे और दीक्षित होनेके पश्चात् एकचित्त हो परिचर्या आरम्भ करे॥

कल्योत्थानं च शौचं च सर्वदेवप्रणामनम्।
शकृदालेपनं काये त्यक्तदोषप्रमादता॥
सायम्प्रातश्चाभिषेकं चाग्निहोत्रं यथाविधि।
काले शौचं च कार्यं च जटावल्कलधारणम्॥
सततं वनचर्या च समित्कुसुमकारणात्।
नीवाराग्रयणं काले शाकमूलोपचायनम्॥
सदायतनशौचं च तस्य धर्माय चेष्यते।

सबेरे उठना, शौचाचारका पालन करना, सब देवताओंको मस्तक झुकाना, शरीरमें गायका गोबर लगाकर नहाना, दोष और प्रमादका त्याग करना, सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं विधिवत् अग्निहोत्र करना, ठीक समयपर शौचाचारका पालन करना, सिरपर जटा और कटिप्रदेशमें वल्कल धारण करना, समिधा और पुष्पका संग्रह करनेके लिये सदा वनमें विचरना, समयपर नीवारसे आग्रयण कर्म (नवशस्येष्टि यज्ञका सम्पादन) करना, साग और मूलका संकलन करना तथा सदा अपने घरको शुद्ध रखना—आदि कार्य वानप्रस्थ मुनिके लिये अभीष्ट है। इनसे उसके धर्मकी सिद्धि होती है॥

अतिथीनामाभिमुख्यं तत्परत्वं च सर्वदा॥
पाद्यासनाभ्यां सम्पूज्य तथाहारनिमन्त्रणम्।
अग्राम्यपचनं काले पितृदेवार्चनं तथा॥
पश्चादतिथिसत्कारस्तस्य धर्माः सनातनाः।

पहले अतिथियोंके सम्मुख जाय, फिर सदा उनकी सेवामें तत्पर रहे। पाद्य और आसन आदिके द्वारा उनकी पूजा करके उन्हें भोजनके लिये बुलावे। समयपर ऐसी वस्तुओंसे रसोई बनावे, जो गाँवमें पैदा न हुई हों। उन

रसोईके द्वारा पहले देवताओं और पितरोंका पूजन करे। तत्पश्चात् अतिथिको सत्कारपूर्वक भोजन करावे। ऐसा करनेवाले वानप्रस्थको सनातन धर्मकी सिद्धि प्राप्त होती है॥

शिष्टैर्धर्मासने चैव धर्मार्थसहिताः कथाः॥
प्रतिश्रयविभागश्च भूमिशय्या शिलासु वा।

धर्मासनपर बैठे हुए शिष्ट पुरुषोंद्वारा उसे धर्मार्थयुक्त कथाएँ सुननी चाहिये। उसे अपने लिये पृथक् आश्रम बना लेना चाहिये। वह पृथ्वी अथवा प्रस्तरकी शय्यापर सोये॥

व्रतोपवासयोगश्च क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥
दिवारात्रं यथायोगं शौचं धर्मस्य चिन्तनम्।)

वानप्रस्थ मुनि व्रत और उपवासमें तत्पर रहे, दूसरोंपर क्षमाका भाव रखे, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे। दिन-रात यथासम्भव शौचाचारका पालन करके धर्मका चिन्तन करे॥

त्रिकालमभिषेकं च पितृदेवार्चनं तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्द इष्टिहोमविधिस्तथा॥ ६॥

उन्हें दिनमें तीन बार स्नान, पितरों और देवताओंका पूजन, अग्निहोत्र तथा विधिवत् यज्ञ करने चाहिये॥

नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम्।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थे च निषेवणम्॥ ७॥

वानप्रस्थको जीविकाके लिये नीवार (तिन्नीका चावल) और फल-मूलका सेवन करना चाहिये तथा शरीरमें स्निग्धता लाने या तेलसे होनेवाले कार्योंके निर्वाहके लिये इंगुद और रेड़ीके तेलका सेवन करना उचित है॥ ७॥

योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोधविवर्जितैः।
वीरशय्यामुपासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः ॥ ८॥

उन्हें योगका अभ्यास करके उसमें सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। काम और क्रोधको त्याग देना चाहिये। वीरासनसे बैठकर वीरस्थान (विशाल और घने जंगल) में निवास करने चाहिये॥ ८॥

युक्तैर्योगवहैः सद्भिर्ग्रीष्मे पञ्चतपैस्तथा।
मण्डूकयोगनियतैर्यथान्यायं निषेविभिः॥ ९॥

मनको एकाग्र रखकर योगसाधनमें तत्पर रहना चाहिये। श्रेष्ठ वानप्रस्थको गर्मीमें पंचाग्नि सेवन करना चाहिये। हठयोगशास्त्रमें प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अभ्यासमें नियमपूर्वक लगे रहना चाहिये। किसी भी वस्तुका न्यायानुकूल सेवन करना चाहिये॥ ९॥

वीरासनरतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनं तथा।
शीततोयाग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः॥ १०॥

सदा वीरासनसे बैठना और वेदी या चबूतरेपर सोना चाहिये। धर्ममें बुद्धि रखनेवाले वानस्थ मुनियोंको शीततोयाग्नियोगका आचरण करना चाहिये अर्थात् उन्हें सर्दीकी मौसममें रातको जलके भीतर बैठना या खड़े रहना, बरसातमें खुले मैदानमें सोना और ग्रीष्म-ऋतुमें पंचाग्निका सेवन करना चाहिये॥ १०॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शैवलोत्तरभोजनैः।
अश्मकुट्टैस्तथा दान्तैः सम्प्रक्षालैस्तथापरैः॥ ११॥

वे वायु अथवा जल पीकर रहें। सेवारका भोजन करें। पत्थरसे अन्न या फलको कूँचकर खायँ अथवा दाँतोंसे चबाकर ही भक्षण करें। सम्प्रक्षालके नियमसे रहें अर्थात् दूसरे दिनके लिये आहार संग्रह करके न रखें॥

चीरवल्कलसंवीतैर्मृगचर्मनिवासिभिः ।
कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मं यथाविधि॥ १२॥

अधोवस्त्रकी जगह चीर और वल्कल पहनें, उत्तरीयके स्थानमें मृगछालेसे ही अपने अंगोंको आच्छादित करें। उन्हें समयके अनुसार धर्मके उद्देश्यसे विधिपूर्वक तीर्थ आदि स्थानोंकी ही यात्रा करनी चाहिये॥ १२॥

वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः ।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः॥ १३॥

वानप्रस्थको सदा वनमें ही रहना, वनमें ही विचरना, वनमें ही ठहरना, वनके ही मार्गपर चलना और गुरुकी भाँति वनकी शरण लेकर वनमें ही जीवन-निर्वाह करना चाहिये॥ १३॥

तेषां होमक्रिया धर्मः पञ्चयज्ञनिषेवणम्।
भागं च पञ्चयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम्॥ १४॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञोंका सेवन वानप्रस्थोंका धर्म है। उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पंच-यज्ञोंका निरन्तर पालन करना चाहिये॥ १४॥

अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम्।
पौर्णमासादयो यज्ञा नित्ययज्ञस्तथैव च॥ १५॥

अष्टमी तिथिको होनेवाले अष्टका श्राद्धरूप यज्ञमें तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रतका सेवन करना, पौर्णमास और दर्शादि यज्ञ तथा नित्ययज्ञका अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनिका धर्म है॥ १५॥

विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरैः।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने॥ १६॥

वानप्रस्थ मुनि स्त्री-समागम, सब प्रकारके संकर

तथा सम्पूर्ण पापोंसे दूर रहकर वनमें विचरते रहते हैं॥ १६॥

स्रुग्भाण्डपरमा नित्यं त्रेताग्निशरणाः सदा।
सन्तः सत्पथनित्या ये ते यान्ति परमां गतिम्॥ १७॥

स्रुक्-सुवा आदि यज्ञपात्र ही उनके लिये उत्तम उपकरण हैं। वे सदा आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियोंकी शरण लेकर सदा उन्हींकी परिचर्यामें लगे रहते हैं और नित्य सन्मार्गपर चलते हैं। इस प्रकार अपने धर्ममें तत्पर रहनेवाले वे श्रेष्ठ पुरुष परमगतिको प्राप्त होते हैं॥ १७॥

ब्रह्मलोकं महापुण्यं सोमलोकं च शाश्वतम्।
गच्छन्ति मुनयः सिद्धाः सत्यधर्मव्यपाश्रयाः॥ १८॥

वे मुनि सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले और सिद्ध होते हैं, अतः महान् पुण्यमय ब्रह्मलोक तथा सनातन सोमलोकमें जाते हैं॥ १८॥

एष धर्मो मया देवि वानप्रस्थाश्रितः शुभः।
विस्तरेणाथ सम्पन्नो यथास्थूलमुदाहृतः॥ १९॥

देवि! यह मैंने तुम्हारे निकट विस्तारयुक्त एवं मंगलमय वानप्रस्थधर्मका स्थूलभावसे वर्णन किया है॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश सर्वभूतनमस्कृत।
यो धर्मो मुनिसंघस्य सिद्धिवादेषु तं वद॥ २०॥

उमादेवी बोलीं—भगवन्! सर्वभूतेश्वर! समस्त प्राणियोंद्वारा वन्दित महेश्वर! ज्ञानगोष्ठियोंमें मुनि-समुदायका जो धर्म निश्चित किया गया है, उसे बताइये॥

सिद्धिवादेषु संसिद्धास्तथा वननिवासिनः।
स्वैरिणो दारसंयुक्तास्तेषां धर्मः कथं स्मृतः॥ २१॥

ज्ञानगोष्ठियोंमें जो सम्यक् सिद्ध बताये गये हैं, वे वनवासी मुनि कोई तो एकाकी ही स्वच्छन्द विचरते हैं, कोई पत्नीके साथ रहते हैं। उनका धर्म कैसा माना गया है?॥ २१॥

श्रीमहेश्वर उवाच

स्वैरिणस्तपसा देवि सर्वे दारविहारिणः।
तेषां मौण्ड्यं कषायश्च वासे रात्रिश्च कारणम्॥ २२॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! सभी वानप्रस्थ तपस्यामें संलग्न रहते हैं, उनमेंसे कुछ तो स्वच्छन्द विचरनेवाले होते हैं (स्त्रीको साथ नहीं रखते) और कुछ अपनी-अपनी स्त्रीके साथ रहते हैं। स्वच्छन्द विचरनेवाले मुनि सिर मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहनते हैं; (उनका कोई एक स्थान नहीं होता) किंतु जो स्त्रीके साथ रहते हैं, वे रात्रिको अपने आश्रममें ही ठहरते हैं॥ २२॥

त्रिकालमभिषेकश्च होत्रं त्वृषिकृतं महत्।
समाधिसत्पथस्थानं यथोद्दिष्टनिषेवणम्॥ २३॥

दोनों प्रकारके ही ऋषियोंका यह महान् कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन तीनों समय जलमें स्नान करें और अग्निमें आहुति डालें। समाधि लगावें, सन्मार्गपर चलें और शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करें॥ २३॥

ये च ते पूर्वकथिता धर्मास्ते वनवासिनाम्।
यदि सेवन्ति धर्मांस्तानाप्नुवन्ति तपःफलम्॥ २४॥

पहले जो तुम्हारे समक्ष वनवासियोंके धर्म बताये गये हैं, उन सबका यदि वे पालन करते हैं तो उन्हें अपनी तपस्याका पूर्ण फल मिलता है॥ २४॥

ये च दम्पतिधर्माणः स्वदारनियतेन्द्रियाः।
चरन्ति विधिवद् दृष्टं तदनुकालाभिगामिनः॥ २५॥
तेषामृषिकृतो धर्मो धर्मिणामुपपद्यते।
न कामकारात् कामोऽन्यः संसेव्यो धर्मदर्शिभिः॥ २६॥

जो गृहस्थ दाम्पत्य धर्मका पालन करते हुए स्त्रीको अपने साथ रखते हैं, उसके साथ ही इन्द्रियसंयम-पूर्वक वेदविहित धर्मका आचरण करते हैं और केवल ऋतुकालमें ही स्त्री-समागम करते हैं, उन धर्मात्माओंको ऋषियोंके बताये हुए धर्मोंके पालन करनेका फल मिलता है। धर्मदर्शी पुरुषोंको कामनावश किसी भोगका सेवन नहीं करना चाहिये॥ २५-२६॥

सर्वभूतेषु यः सम्यग् ददात्यभयदक्षिणाम्।
हिंसादोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते॥ २७॥

जो हिंसादोषसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसीको धर्मका फल प्राप्त होता है॥ २७॥

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते॥ २८॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता है, सबके साथ सरलताका बर्ताव करता और समस्त भूतोंको आत्मभावसे देखता है, वही धर्मके फलसे युक्त होता है॥ २८॥

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे एते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥ २९॥

चारों वेदोंमें निष्णात होना और सब जीवोंके प्रति सरलताका बर्ताव करना—ये दोनों एक समान समझे जाते हैं अथवा सरलताका ही महत्त्व अधिक माना जाता है॥

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते॥ ३०॥

सरलताको धर्म कहते हैं और कुटिलताको अधर्म। सरलभावसे युक्त मनुष्य ही यहाँ धर्मके फलका भागी होता है॥ ३०॥

आर्जवे तु रतो नित्यं वसत्यमरसंनिधौ।
तस्मादार्जवयुक्तः स्याद् य इच्छेद् धर्ममात्मनः॥ ३१॥

जो सदा सरल बर्तावमें तत्पर रहता है, वह देवताओंके समीप निवास करता है। इसलिये जो अपने धर्मका फल पाना चाहता हो, उसे सरलतापूर्ण बर्तावसे युक्त होना चाहिये॥ ३१॥

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतो विहिंसकः।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते॥ ३२॥

क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, धर्मनिष्ठ, अहिंसक और सदा धर्मपरायण मनुष्य ही धर्मके फलका भागी होता है॥ ३२॥

व्यपेततन्द्रिर्धर्मात्मा शक्त्या सत्पथमाश्रितः।
चारित्रपरमो बुद्धो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ३३॥

जो पुरुष आलस्यरहित, धर्मात्मा, शक्तिके अनुसार श्रेष्ठ मार्गपर चलनेवाला, सच्चरित्र और ज्ञानी होता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ ३३॥

उमोवाच

(एषां यायावराणां तु धर्ममिच्छामि मानद।
कृपया परयाऽऽविष्टस्तन्मे ब्रूहि महेश्वर॥

उमादेवी बोलीं—सबको मान देनेवाले महेश्वर! मैं यायावरोंके धर्मको सुनना चाहती हूँ, आप महान् अनुग्रह करके मुझे यह बताइये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मं यायावराणां त्वं शृणु भामिनि तत्परा॥
व्रतोपवासशुद्धाङ्गास्तीर्थस्नानपरायणाः।

श्रीमहेश्वरने कहा—भामिनि! तुम तत्पर होकर यायावरोंके धर्म सुनो। व्रत और उपवाससे उनके अंग-प्रत्यंग शुद्ध हो जाते हैं तथा वे तीर्थ-स्नानमें तत्पर रहते हैं॥

धृतिमन्तः क्षमायुक्ताः सत्यव्रतपरायणाः॥
पक्षमासोपवासैश्च कर्शिता धर्मदर्शिनः।

उनमें धैर्य और क्षमाका भाव होता है। वे सत्यव्रत-परायण होकर एक-एक पक्ष और एक-एक मासका उपवास करके अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं। उनकी दृष्टि सदा धर्मपर ही रहती है॥

वर्षैः शीतातपैरेव कुर्वन्तः परमं तपः॥
कालयोगेन गच्छन्ति शक्रलोकं शुचिस्मिते।

पवित्र मुसकानवाली देवि! वे सर्दी, गर्मी और वर्षाका कष्ट सहन करते हुए बड़ी भारी तपस्या करते हैं और कालयोगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं॥

तत्र ते भोगसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विताः॥
दिव्यभूषणसंयुक्ता विमानवरसंयुताः।
विचरन्ति यथाकामं दिव्यस्त्रीगणसंयुताः॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

वहाँ भी नाना प्रकारके भोगोंसे संयुक्त और दिव्यगन्धसे सम्पन्न हो दिव्य आभूषण धारण करके सुन्दर विमानोंपर बैठते और दिव्यांगनाओंके साथ इच्छानुसार विहार करते हैं। देवि! यह सब यायावरोंका धर्म मैंने तुम्हें बताया। अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

तेषां चक्रचराणां च धर्ममिच्छामि वै प्रभो॥

उमाने कहा—प्रभो! वानप्रस्थ ऋषियोंमें जो चक्रचर (छकड़ेसे यात्रा करनेवाले) हैं उनके धर्मको मैं जानना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

एतत् ते कथयिष्यामि शृणु शाकटिकं शुभे॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभे! यह मैं तुम्हें बता रहा हूँ। चक्रचारी या शाकटिक मुनियोंका धर्म सुनो॥

संवहन्तो धुरं दारैः शकटानां तु सर्वदा।
प्रार्थयन्ते यथाकालं शकटैर्भैक्षचर्यया॥
तपोऽर्जनपरा धीरास्तपसा क्षीणकल्मषाः।
पर्यटन्तो दिशः सर्वाः कामक्रोधविवर्जिताः॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ सदा छकड़ोंके बोझ ढोते हुए यथासमय छकड़ोंद्वारा ही जाकर भिक्षाकी याचना करते हैं। सदा तपस्याके उपार्जनमें लगे रहते हैं। वे धीर मुनि तपस्याद्वारा अपने सारे पापोंका नाश कर डालते हैं तथा काम और क्रोधसे रहित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें पर्यटन करते हैं॥

तेनैव कालयोगेन त्रिदिवं यान्ति शोभने।
तत्र प्रमुदिता भोगैर्विचरन्ति यथासुखम्॥
एतत् ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥

शोभने! उसी जीवनचर्यासे रहित हुए वे कालयोगसे मृत्युको प्राप्त होकर स्वर्गमें जाते हैं और वहाँ दिव्य भोगोंसे आनन्दित हो अपने मौजसे घूमते-फिरते हैं। देवि! तुम्हारे इस प्रश्नका भी उत्तर दे दिया, अब और क्या सुनना चाहती हो॥

उमोवाच

वैखानसानां वै धर्मं श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो॥

उमाने कहा—प्रभो! अब मैं वैखानसोंका धर्म सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ते वै वैखानसा नाम वानप्रस्थाः शुभेक्षणे।
तीव्रेण तपसा युक्ता दीप्तिमन्तः स्वतेजसा॥
सत्यव्रतपरा धीरास्तेषां निष्कल्मषं तपः।

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभेक्षणे! वे जो वैखानस नामवाले वानप्रस्थ हैं, बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। अपने तेजसे देदीप्यमान होते हैं। सत्यव्रत-परायण और धीर होते हैं। उनकी तपस्यामें पापका लेश भी नहीं होता है॥

अश्मकुट्टास्तथान्ये च दन्तोलूखलिनस्तथा।
शीर्णपर्णाशिनश्चान्ये उञ्छवृत्तास्तथा परे॥
कपोतवृत्तयश्चान्ये कापोतीं वृत्तिमास्थिताः।
पशुप्रचारनिरताः फेनपाश्च तथा परे॥
मृगवन्मृगचर्यायां संचरन्ति तथा परे।

उनमेंसे कुछ लोग अश्मकुट्ट (पत्थरसे ही अन्न या फलको कूँचकर खानेवाले) होते हैं। दूसरे दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं, तीसरे सूखे पत्ते चबाकर रहते हैं, चौथे उञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले होते हैं। कुछ कापोती वृत्तिका आश्रय लेकर कबूतरोंके समान अन्नके एक-एक दाने बीनते हैं। कुछ लोग पशुचर्याको अपनाकर पशुओंके साथ ही चलते और उन्हींकी भाँति तृण खाकर रहते हैं। दूसरे लोग फेन चाटकर रहते हैं तथा अन्य बहुतेरे वैखानस मृगचर्याका आश्रय लेकर मृगोंके समान उन्हींके साथ विचरते हैं॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च निराहारास्तथैव च॥
केचिच्चरन्ति सद्विष्णोः पादपूजनमुत्तमम्।

कुछ लोग जल पीकर रहते, कुछ लोग हवा खाकर निर्वाह करते और कितने ही निराहार रह जाते हैं। कुछ लोग भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंका उत्तम रीतिसे पूजन करते हैं॥

संचरन्ति तपो घोरं व्याधिमृत्युविवर्जिताः॥
स्ववशादेव ते मृत्युं भीषयन्ति च नित्यशः॥
इन्द्रलोके तथा तेषां निर्मिता भोगसंचयाः।
अमरैः समतां यान्ति देववद्भोगसंयुताः॥

वे रोग और मृत्युसे रहित हो घोर तपस्या करते हैं और अपनी ही शक्तिसे प्रतिदिन मृत्युको डराया करते हैं। उनके लिये इन्द्रलोकमें ढेर-के-ढेर भोग संचित रहते हैं। वे देवतुल्य भोगोंसे सम्पन्न हो देवताओंकी समानता प्राप्त कर लेते हैं॥

वराप्सरोभिः संयुक्ताश्चिरकालमनिन्दिते।
एतत् ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि॥

सती साध्वी देवि! वे चिरकालतक श्रेष्ठ अप्सराओंके साथ रहकर सुखका अनुभव करते हैं। यह तुमसे वैखानसोंका धर्म बताया गया, अब और क्या सुनना चाहती हो?॥

उमोवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि वालखिल्यांस्तपोधनान्॥

उमाने कहा—भगवन्! अब मैं तपस्याके धनी वालखिल्योंका परिचय सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

धर्मचर्यां तथा देवि वालखिल्यगतां शृणु॥
मृगनिर्मोकवसना निर्द्वन्द्वास्ते तपोधनः।
अङ्गुष्ठमात्राः सुश्रोणि तेष्वेवाङ्गेषु संयुताः॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! वालखिल्योंकी धर्मचर्याका वर्णन सुनो। वे मृगछाला पहनते हैं, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तपस्या ही उनका धन है। सुश्रोणि! उनके शरीरकी लम्बाई एक अंगूठेके बराबर है, उन्हीं शरीरोंमें वे सब एक साथ रहते हैं॥

उद्यन्तं सततं सूर्यं स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः।
भास्करस्येव किरणैः सहसा यान्ति नित्यदा॥
द्योतयन्तो दिशः सर्वा धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥

वे प्रतिदिन नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा निरन्तर उगते हुए सूर्यकी स्तुति करते हुए सहसा आगे बढ़ते जाते हैं और अपनी सूर्यतुल्य किरणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं। वे सब-के-सब धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं॥

तेष्वेव निर्मलं सत्यं लोकार्थं तु प्रतिष्ठितम्।
लोकोऽयं धार्यते देवि तेषामेव तपोबलात्॥
महात्मनां तु तपसा सत्येन च शुचिस्मिते।
क्षमया च महाभागे भूतानां संस्थितिं विदुः॥

उन्हींमें लोकरक्षाके लिये निर्मल सत्य प्रतिष्ठित है। देवि! उन वालखिल्योंके ही तपोबलसे यह सारा जगत् टिका हुआ है। पवित्र मुसकानवाली महाभागे! उन्हीं महात्माओंकी तपस्या, सत्य और क्षमाके प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति बनी हुई है, ऐसा मनीषी पुरुष मानते हैं॥

प्रजार्थमपि लोकार्थं महद्भिः क्रियते तपः।
तपसा प्राप्यते सर्वं तपसा प्राप्यते फलम्॥
दुष्प्रापमपि यल्लोके तपसा प्राप्यते हि तत्॥)

महान् पुरुष समस्त प्रजावर्ग तथा सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये तपस्या करते हैं। तपस्यासे सब कुछ प्राप्त होता है। तपस्यासे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। लोकमें जो दुर्लभ वस्तु है, वह भी तपस्यासे सुलभ हो जाती है॥

उमोवाच

आश्रमाभिरता देव तापसा ये तपोधनाः।
दीप्तिमन्तः कया चैव चर्ययाथ भवन्ति ते॥ ३४॥

उमाने पूछा—देव! जो तपस्याके धनी तपस्वी अपने आश्रमधर्ममें ही रम रहे हैं, वे किस आचरणसे तपस्वी होते हैं?॥ ३४॥

राजानो राजपुत्राश्च निर्धना ये महाधनाः।
कर्मणा केन भगवन् प्राप्नुवन्ति महाफलम्॥ ३५॥

भगवन्! जो राजा या राजकुमार हैं अथवा जो निर्धन या महाधनी हैं, वे किस कर्मके प्रभावसे महान् फलके भागी होते हैं?॥ ३५॥

नित्यं स्थानमुपागम्य दिव्यचन्दनभूषिताः।
केन वा कर्मणा देव भवन्ति वनगोचराः॥ ३६॥

देव! वनवासी मुनि किस कर्मसे दिव्य स्थानको पाकर दिव्य चन्दनसे विभूषित होते हैं?॥ ३६॥

एतन्मे संशयं देव तपश्चर्याऽऽश्रितं शुभम्।
शंस सर्वमशेषेण त्र्यक्ष त्रिपुरनाशन॥ ३७॥

देव! त्रिपुरनाशन त्रिलोचन! तपस्याके आश्रित शुभ फलके विषयमें मेरा यही संदेह है। इस सारे संदेहका उत्तर आप पूर्णरूपसे प्रदान करें॥ ३७॥

श्रीमहेश्वर उवाच

उपवासव्रतैर्दान्ता ह्यहिंस्राः सत्यवादिनः।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः॥ ३८॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो उपवास व्रतसे सम्पन्न, जितेन्द्रिय, हिंसारहित और सत्यवादी होकर सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं, वे मृत्युके पश्चात् रोग-शोकसे रहित हो गन्धर्वोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं॥ ३८॥

मण्डूकयोगशयनो यथान्यायं यथाविधि।
दीक्षां चरति धर्मात्मा स नागैः सह मोदते॥ ३९॥

जो धर्मात्मा पुरुष न्यायानुसार विधिपूर्वक हठयोग-प्रसिद्ध मण्डूकयोगके अनुसार शयन करता और यज्ञकी दीक्षा लेता है, वह नागलोकमें नागोंके साथ सुख भोगता है॥ ३९॥

शष्पं मृगमुखोच्छिष्टं यो मृगैः सह भक्षति।
दीक्षितो वै मुदा युक्तः स गच्छत्यमरावतीम्॥ ४०॥

जो मृगचर्या-व्रतकी दीक्षा ले मृगोंके मुखसे उच्छिष्ट हुई घासको प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके साथ रहकर भक्षण करता है, वह मृत्युके पश्चात् अमरावतीपुरीमें जाता है॥

शैवालं शीर्णपर्णं वा तद्व्रती यो निषेवते।
शीतयोगवहो नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम्॥ ४१॥

जो व्रतधारी वानप्रस्थ मुनि सेवार अथवा जीर्ण-शीर्ण पत्तेका आहार करता तथा जाड़ेमें प्रतिदिन शीतका कष्ट सहन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है॥ ४१॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा फलमूलाशनोऽपि वा।
यक्षेष्वैश्वर्यमाधाय मोदतेऽप्सरसां गणैः॥ ४२॥

जो वायु, जल, फल अथवा मूल खाकर रहता है, वह यक्षोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अप्सराओंके साथ आनन्द भोगता है॥ ४२॥

अग्नियोगवहो ग्रीष्मे विधिदृष्टेन कर्मणा।
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि राजा भवति पार्थिवः॥ ४३॥

जो गर्मीमें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पंचाग्नि सेवन करता है, वह बारह वर्षोंतक उक्त व्रतका पालन करके जन्मान्तरमें भूमण्डलका राजा होता है॥ ४३॥

आहारनियमं कृत्वा मुनिर्द्वादशवार्षिकम्।
मरुं संसाध्य यत्नेन राजा भवति पार्थिवः॥ ४४॥

जो मुनि बारह वर्षोंतक आहारका संयम करता हुआ यत्नपूर्वक मरु-साधना करके अर्थात् जलको भी त्यागकर तप करता है, वह भी इस पृथ्वीका राजा होता है॥ ४४॥

स्थण्डिले शुद्धमाकाशं परिगृह्य समन्ततः।
प्रविश्य च मुदा युक्तो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्॥ ४५॥
देहं चानशने त्यक्त्वा स स्वर्गे सुखमेधते।

जो वानप्रस्थ अपने चारों ओर विशुद्ध आकाशको ग्रहण करता हुआ खुले मैदानमें वेदीपर सोता और बारह वर्षोंके लिये प्रसन्नतापूर्वक व्रतकी दीक्षा ले उपवास करके अपना शरीर त्याग देता है, वह स्वर्गलोकमें सुख भोगता है॥ ४५½॥

स्थण्डिलस्य फलान्याहुर्यानानि शयनानि च॥ ४६॥
गृहाणि च महार्हाणि चन्द्रशुभ्राणि भामिनि।

भामिनि! वेदीपर शयन करनेसे प्राप्त होनेवाले फल इस प्रकार बताये गये हैं—सवारी, शय्या और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल बहुमूल्य गृह॥ ४६½॥

आत्मानमुपजीवन् यो नियतो नियताशनः॥ ४७॥
देहं वानशने त्यक्त्वा स स्वर्गं समुपाश्नुते।

जो केवल अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ नियमपूर्वक रहता है और नियमित भोजन करता है अथवा अनशन व्रतका आश्रय ले शरीरको त्याग देता है, वह स्वर्गका सुख भोगता है॥ ४७½॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्॥ ४८॥
त्यक्त्वा महार्णवे देहं वारुणं लोकमश्नुते।

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ बारह वर्षोंकी दीक्षा ले महासागरमें अपने शरीरका त्याग कर देता है, वह वरुणलोकमें सुख भोगता है॥ ४८½॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्॥ ४९॥
अश्मना चरणौ भित्त्वा गुह्यकेषु स मोदते।
साधयित्वाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ ५०॥

जो अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ निर्द्वन्द्व और परिग्रहशून्य हो बारह वर्षोंके लिये व्रतकी दीक्षा ले अन्तमें पत्थरसे अपने पैरोंको विदीर्ण करके स्वयं ही अपने शरीरको त्याग देता है, वह गुह्यकलोकमें आनन्द भोगता है॥ ४९-५०॥

चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम्।
स्वर्गलोकमवाप्नोति देवैश्च सह मोदते॥ ५१॥

जो बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करता है, वह स्वर्गलोकमें जाता और देवताओंके साथ आनन्द भोगता है॥ ५१॥

आत्मानमुपजीवन् यो दीक्षां द्वादशवार्षिकीम्।
हुत्वाग्नौ देहमुत्सृज्य वह्निलोके महीयते॥ ५२॥

जो बारह वर्षोंके लिये व्रत-पालनकी दीक्षा ले अपने ही सहारे जीवन-यापन करता हुआ अपने शरीरको अग्निमें होम देता है, वह अग्निलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ५२॥

यस्तु देवि यथान्यायं दीक्षितो नियतो द्विजः।
आत्मन्यात्मानमाधाय निर्ममो धर्मलालसः॥ ५३॥
चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि दीक्षामेतां मनोगताम्।
अरणीसहितं स्कन्धे बद्ध्वा गच्छत्यनावृतः॥ ५४॥
वीराध्वानगतो नित्यं वीरासनरतस्तथा।
वीरस्थायी च सततं स वीरगतिमाप्नुयात्॥ ५५॥

देवि! जो ब्राह्मण नियमपूर्वक रहकर यथोचित रीतिसे वनवास-व्रतकी दीक्षा ले अपने मनको परमात्मचिन्तनमें लगाकर ममताशून्य और धर्मका अभिलाषी होकर बारह वर्षोंतक इस मनोगत दीक्षाका पालन करके अरणी-सहित अग्निको वृक्षकी डालीमें बाँधकर अर्थात् अग्निका परित्याग करके अनावृत भावसे यात्रा करता है, सदा वीर मार्गसे चलता है, वीरासनपर बैठता है और वीरकी भाँति खड़ा होता है, वह वीरगतिको प्राप्त होता है॥

स शक्रलोकगो नित्यं सर्वकामपुरस्कृतः।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णो दिव्यचन्दनभूषितः॥ ५६॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर सदा सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न होता है। उसके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होती है तथा वह दिव्य चन्दनसे विभूषित होता है॥ ५६॥

सुखं वसति धर्मात्मा दिवि देवगणैः सह।
वीरलोकगतो नित्यं वीरयोगसहः सदा॥ ५७॥

वह धर्मात्मा देवलोकमें देवताओंके साथ सुख-पूर्वक निवास करता है और निरन्तर वीरलोकमें रहकर वीरोंके साथ संयुक्त होता है॥ ५७॥

सत्त्वस्थः सर्वमुत्सृज्य दीक्षितो नियतः शुचिः।
वीराध्वानं प्रपद्येद् यस्तस्य लोकाः सनातनाः॥ ५८॥

जो सब कुछ त्यागकर वनवासकी दीक्षा ले सत्त्वगुणमें स्थित नियमपरायण एवं पवित्र हो वीरपथका आश्रय लेता है, उसे सनातन लोक प्राप्त होते हैं॥ ५८॥

कामगेन विमानेन स वै चरति छन्दतः।
शक्रलोकगतः श्रीमान् मोदते च निरामयः॥ ५९॥

वह इन्द्रलोकमें जाकर नीरोग और दिव्य शोभासे सम्पन्न हो आनन्द भोगता है और इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा स्वच्छन्द विचरता रहता है॥ ५९॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे
द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३७½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणादि वर्णोंकी प्राप्तिमें मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंकी प्रधानताका प्रतिपादन

उमोवाच

भगवन् भगनेत्रघ्न पूष्णो दन्तनिपातन।
दक्षक्रतुहर त्र्यक्ष संशयो मे महानयम्॥ १॥

पार्वतीजीने पूछा—भगदेवताकी आँख फोड़कर पूषाके दाँत तोड़ डालनेवाले दक्षयज्ञविध्वंसी भगवान् त्रिलोचन! मेरे मनमें यह एक महान् संशय है॥ १॥

चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा।
केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम्॥ २॥

भगवान् ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन चार वर्णोंकी सृष्टि की है, उनमेंसे वैश्य किस कर्मके परिणामसे शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है?॥ २॥

वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत्।
प्रतिलोमः कथं देव शक्यो धर्मो निवर्तितुम्॥ ३॥

अथवा क्षत्रिय किस कर्मसे वैश्य होता है और ब्राह्मण किस कर्मसे क्षत्रिय हो जाता है? देव! प्रतिलोम धर्मको कैसे निवृत्त किया जा सकता है?॥ ३॥

केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते।
क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विभो॥ ४॥

प्रभो! कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण शूद्र-योनिमें जन्म लेता है अथवा किस कर्मसे क्षत्रिय शूद्र हो जाता है?॥ ४॥

एतन्मे संशयं देव वद भूतपतेऽनघ।
त्रयो वर्णाः प्रकृत्येह कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः॥ ५॥

देव! पापरहित भूतनाथ! मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय—इन तीन वर्णोंके लोग किस प्रकार स्वभावतः ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकते हैं?॥ ५॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे।
क्षत्रियो वैश्यशूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः॥ ६॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! ब्राह्मणत्व दुर्लभ है। शुभे! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण मेरे विचारसे नैसर्गिक (प्राकृतिक या स्वभावसिद्ध) हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ६॥

कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद् भ्रश्यति वै द्विजः।
ज्येष्ठं वर्णमनुप्राप्य तस्माद् रक्षेत वै द्विजः॥ ७॥

इतना अवश्य है कि यहाँ पापकर्म करनेसे द्विज अपने स्थानसे-अपनी महत्तासे नीचे गिर जाता है। अतः द्विजको उत्तम वर्णमें जन्म पाकर अपनी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये॥ ७॥

स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति।
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति॥ ८॥

यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्राह्मण-धर्मका पालन करते हुए ब्राह्मणत्वका सहारा लेता है तो वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ ८॥

यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते।
ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते॥ ९॥

जो ब्राह्मण ब्राह्मणत्वका त्याग करके क्षत्रिय-धर्मका सेवन करता है, वह अपने धर्मसे भ्रष्ट होकर क्षत्रिय योनिमें जन्म लेता है॥ ९॥

वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा॥ १०॥
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात्।
स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते॥ ११॥

जो विप्र दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर लोभ और मोहके वशीभूत हो अपनी मन्दबुद्धिताके कारण वैश्यका कर्म करता है, वह वैश्ययोनिमें जन्म लेता है। अथवा यदि वैश्य शूद्रके कर्मको अपनाता है, तो वह भी शूद्रत्वको प्राप्त होता है। शूद्रोचित कर्म करके अपने धर्मसे भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है॥ १०-११॥

तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः।
ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते॥ १२॥

ब्राह्मण-जातिका पुरुष शूद्र-कर्म करनेके कारण अपने वर्णसे भ्रष्ट होकर जातिसे बहिष्कृत हो जाता है और मृत्युके पश्चात् वह ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे वंचित होकर नरकमें पड़ता है। इसके बाद वह शूद्रकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है॥ १२॥

क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्म निषेवते॥ १३॥
स्वस्थानात् स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः॥ १४॥

महाभागे! धर्मचारिणि! क्षत्रिय अथवा वैश्य भी अपने-अपने कर्मोंको छोड़कर यदि शूद्रका काम करने

लगता है तो वह अपनी जातिसे भ्रष्ट होकर वर्णसंकर हो जाता है और दूसरे जन्ममें शूद्रकी योनिमें जन्म पाता है। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कोई भी क्यों न हो, वह शूद्रभावको प्राप्त होता है॥ १३-१४॥

यस्तु बुद्धः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवान् शुचिः।
धर्मज्ञो धर्मनिरतः स धर्मफलमश्नुते॥ १५॥

जो पुरुष अपने वर्णधर्मका पालन करते हुए बोध प्राप्त करता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, पवित्र तथा धर्मज्ञ होकर धर्ममें ही लगा रहता है, वही धर्मके वास्तविक फलका उपभोग करता है॥ १५॥

इदं चैवापरं देवि ब्रह्मणा समुदाहृतम्।
अध्यात्मं नैष्ठिकं सद्भिर्धर्मकामैर्निषेव्यते॥ १६॥

देवि! ब्रह्माजीने यह एक बात और बतायी है—धर्मकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंको आजीवन अध्यात्म-तत्त्वका ही सेवन करना चाहिये॥ १६॥

उग्रान्नं गर्हितं देवि गणान्नं श्राद्धसूतकम्।
दुष्टान्नं नैव भोक्तव्यं शूद्रान्नं नैव कर्हिचित्॥ १७॥

देवि! उग्रस्वभावके मनुष्यका अन्न निन्दित माना गया है। किसी समुदायका, श्राद्धका, जननाशौचका, दुष्ट पुरुषका और शूद्रका अन्न भी निषिद्ध है—उसे कभी नहीं खाना चाहिये॥ १७॥

शूद्रान्नं गर्हितं देवि सदा देवैर्महात्मभिः।
पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः॥ १८॥

देवताओं और महात्मा पुरुषोंने शूद्रके अन्नकी सदा ही निन्दा की है। इस विषयमें पितामह ब्रह्माजीके श्रीमुखका वचन प्रमाण है, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १८॥

शूद्रान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः।
आहिताग्निस्तथा यज्वा स शूद्रगतिभाग् भवेत्॥ १९॥

जो ब्राह्मण पेटमें शूद्रका अन्न लिये मर जाता है, वह अग्निहोत्री अथवा यज्ञ करनेवाला ही क्यों न रहा हो, उसे शूद्रकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है॥ १९॥

तेन शूद्रान्नशेषेण ब्रह्मस्थानादपाकृतः।
ब्राह्मणः शूद्रतामेति नास्ति तत्र विचारणा॥ २०॥

उदरमें शूद्रान्नका शेषभाग स्थित होनेके कारण ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे वंचित हो शूद्रभावको प्राप्त होता है: इसमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥ २०॥

यस्यान्नेनावशेषेण जठरे यो म्रियेद् द्विजः।
तां तां योनिं व्रजेद् विप्रो यस्यान्नमुपजीवति॥ २१॥

उदरमें जिसके अन्नका अवशेष लेकर जो ब्राह्मण मृत्युको प्राप्त होता है, वह उसीकी योनिमें जाता है। जिसके अन्नसे जीवन-निर्वाह करता है, उसीकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है॥ २१॥

ब्राह्मणत्वं शुभं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते।
अभोज्यान्नानि चाश्नाति स द्विजत्वात् पतेत वै॥ २२॥

जो शुभ एवं दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाकर उसकी अवहेलना करता है और नहीं खानेयोग्य अन्न खाता है, वह निश्चय ही ब्राह्मणत्वसे गिर जाता है॥ २२॥

सुरापो ब्रह्महा क्षुद्रश्चोरो भग्नव्रतोऽशुचिः।
स्वाध्यायवर्जितः पापो लुब्धो नैकृतिकः शठः॥ २३॥
अव्रती वृषलीभर्ता कुण्डाशी सोमविक्रयी।
निहीनसेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः॥ २४॥

शराबी, ब्रह्महत्यारा, नीच, चोर, व्रतभंग करनेवाला, अपवित्र, स्वाध्यायहीन, पापी, लोभी, कपटी, शठ, व्रतका पालन न करनेवाला, शूद्रजातिकी स्त्रीका स्वामी, कुण्डाशी (पतिके जीते-जी उत्पन्न किये हुए जारज पुत्रके घरमें खानेवाला अथवा पाकपात्रमें ही भोजन करनेवाला), सोमरस बेचनेवाला और नीचसेवी ब्राह्मण ब्राह्मणकी योनिसे भ्रष्ट हो जाता है॥ २३-२४॥

गुरुतल्पी गुरुद्रोही गुरुकुत्सारतिश्च यः।
ब्रह्मविच्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः॥ २५॥

जो गुरुकी शैय्यापर सोनेवाला, गुरुद्रोही और गुरुनिन्दामें अनुरक्त है, वह ब्राह्मण वेदवेत्ता होनेपर भी ब्रह्मयोनिसे नीचे गिर जाता है॥ २५॥

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्॥ २६॥

देवि! इन्हीं शुभ कर्मों और आचरणोंसे शूद्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है और वैश्य क्षत्रियत्वको॥

शूद्रकर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि।
शुश्रूषां परिचर्यां च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः॥ २७॥
कुर्यादविमनाः शूद्रः सततं सत्पथे स्थितः।
देवद्विजातिसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः॥ २८॥
ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः।
चोक्षश्चोक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः॥ २९॥
वृथामांसं न भुञ्जीत शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति।

शूद्र अपने सभी कर्मोंको न्यायानुसार विधिपूर्वक सम्पन्न करे। अपनेसे ज्येष्ठ वर्णकी सेवा और परिचर्यामें प्रयत्नपूर्वक लगा रहे। अपने कर्तव्यपालनसे कभी ऊबे नहीं। सदा सन्मार्गपर स्थित रहे। देवताओं और द्विजोंका सत्कार करे। सबके आतिथ्यका व्रत लिये रहे। ऋतुकालमें

ही स्त्रीके साथ समागम करे। नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। स्वयं शुद्ध रहकर शुद्ध पुरुषोंका ही अन्वेषण करे। अतिथि-सत्कार और कुटुम्बीजनोंके भोजनसे बचे हुए अन्नका ही आहार करे और मांस न खाय। इस नियमसे रहनेवाला शूद्र (मृत्युके पश्चात् पुण्यकर्मोंका फल भोगकर) वैश्ययोनिमें जन्म लेता है॥

ऋतवागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः॥ ३०॥
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः।
दान्तो ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णबुभूषकः॥ ३१॥
गृहस्थव्रतमातिष्ठन् द्विकालकृतभोजनः।
शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः॥ ३२॥
अग्निहोत्रमुपासंश्च जुह्वानश्च यथाविधि।
सर्वातिथ्यमुपातिष्ठन् शेषान्नकृतभोजनः॥ ३३॥
त्रेताग्निमन्त्रविहितो वैश्यो भवति वै द्विजः।
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते॥ ३४॥

वैश्य सत्यवादी, अहंकारशून्य, निर्द्वन्द्व, शान्तिके साधनोंका ज्ञाता, स्वाध्यायपरायण और पवित्र होकर नित्य यज्ञोंद्वारा यजन करे। जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणोंका सत्कार करते हुए समस्त वर्णोंकी उन्नति चाहे। गृहस्थके व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन दो ही समय भोजन करे। यज्ञशेष अन्नका ही आहार करे। आहारपर काबू रखे। सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग दे। अहंकारशून्य होकर विधिपूर्वक आहुति देते हुए अग्निहोत्र कर्मका सम्पादन करे। सबका आतिथ्य-सत्कार करके अवशिष्ट अन्नका स्वयं भोजन करे। त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रोच्चारणपूर्वक परिचर्या करे। ऐसा करनेवाला वैश्य द्विज होता है। वह वैश्य पवित्र एवं महान् क्षत्रियकुलमें जन्म लेता है॥ ३०—३४॥

स वैश्यः क्षत्रियो जातो जन्मप्रभृति संस्कृतः।
उपनीतो व्रतपरो द्विजो भवति सत्कृतः॥ ३५॥
ददाति यजते यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
अधीत्य स्वर्गमन्विच्छंस्त्रेताग्निशरणः सदा॥ ३६॥
आर्तहस्तप्रदो नित्यं प्रजा धर्मेण पालयन्।
सत्यः सत्यानि कुरुते नित्यं यः सुखदर्शनः॥ ३७॥

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ वह वैश्य जन्मसे ही क्षत्रियोचित संस्कारसे सम्पन्न हो उपनयनके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें तत्पर हो सर्वसम्मानित द्विज होता है। वह दान देता है, पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करता है, वेदोंका अध्ययन करके स्वर्गकी इच्छा रखकर सदा त्रिविध अग्नियोंकी शरण ले उनकी आराधना करता है, दुःखी एवं पीड़ित मनुष्योंको हाथका सहारा देता है, प्रतिदिन प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है, स्वयं सत्यपरायण होकर सत्यपूर्ण व्यवहार करता है तथा दर्शनसे ही सबके लिये सुखद होता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय अथवा राजा है॥ ३५—३७॥

धर्मदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासकः।
यन्त्रितः कार्यकरणैः षड्भागकृतलक्षणः॥ ३८॥

धर्मानुसार अपराधीको दण्ड दे। दण्डका त्याग न करे। प्रजाको धर्मकार्यका उपदेश दे। राजकार्य करनेके लिये नियम और विधानसे बँधा रहे। प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे॥ ३८॥

ग्राम्यधर्मं न सेवेत स्वच्छन्देनार्थकोविदः।
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीमुपशयेत् सदा॥ ३९॥

कार्यकुशल धर्मात्मा क्षत्रिय स्वच्छन्दतापूर्वक ग्राम्य धर्म (मैथुन) का सेवन न करे। केवल ऋतुकालमें ही सदा पत्नीके निकट शयन करे॥ ३९॥

सदोपवासी नियतः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
बर्हिष्कान्तरिते नित्यं शयानोऽग्निगृहे सदा॥ ४०॥

सदा उपवास करे अर्थात् एकादशी आदिके दिन उपवास करे और दूसरे दिन भी सदा दो ही समय भोजन करे। बीचमें कुछ न खाय। नियमपूर्वक रहे, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहे, पवित्र हो प्रतिदिन अग्निशालामें कुशकी चटाईपर शयन करे॥ ४०॥

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य कुर्वाणः सुमनाः सदा।
शूद्राणां चान्नकामानां नित्यं सिद्धमिति ब्रुवन्॥ ४१॥

क्षत्रिय सदा प्रसन्नतापूर्वक सबका आतिथ्य-सत्कार करते हुए धर्म, अर्थ और कामका सेवन करें। शूद्र भी यदि अन्नकी इच्छा रखकर उसके लिये प्रार्थना करे तो क्षत्रिय उनके लिये सदा यही उत्तर दे कि तुम्हारे लिये भोजन तैयार है, चलो कर लो॥ ४१॥

अर्थाद् वा यदि वा कामान्न किंचिदुपलक्षयेत्।
पितृदेवातिथिकृते साधनं कुरुते च यः॥ ४२॥

वह स्वार्थ या कामनावश किसी वस्तुका प्रदर्शन न करे। जो पितरों, देवताओं तथा अतिथियोंकी सेवाके लिये चेष्टा करता है, वही श्रेष्ठ क्षत्रिय है॥ ४२॥

स्ववेश्मनि यथान्यायमुपास्ते भैक्ष्यमेव च।
त्रिकालमग्निहोत्रं च जुह्वानो वै यथाविधि॥ ४३॥

क्षत्रिय अपने ही घरमें न्यायपूर्वक भिक्षा (भोजन) करे। तीनों समय विधिवत् अग्निहोत्र करता रहे॥ ४३॥

गोब्राह्मणहितार्थाय रणे चाभिमुखो हतः।
त्रेताग्निमन्त्रपूतात्मा समाविश्य द्विजो भवेत्॥ ४४॥

वह धर्ममें स्थित हो त्रिविध अग्नियोंकी मन्त्रपूर्वक परिचर्यासे पवित्रचित्त हो यदि गौओं तथा ब्राह्मणोंके हितके लिये समरमें शत्रुका सामना करते हुए मारा जाय तो दूसरे जन्ममें ब्राह्मण होता है॥ ४४॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः संस्कृतो वेदपारगः।
विप्रो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा॥ ४५॥

इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय अपने कर्मसे जन्मान्तरमें ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, संस्कारयुक्त तथा वेदोंका पारंगत विद्वान् ब्राह्मण होता है॥ ४५॥

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥ ४६॥

देवि! इन कर्मफलोंके प्रभावसे नीच जाति एवं हीन कुलमें उत्पन्न हुआ शूद्र भी जन्मान्तरमें शास्त्रज्ञान-सम्पन्न और संस्कारयुक्त ब्राह्मण होता है॥ ४६॥

ब्राह्मणो वाप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः॥ ४७॥

ब्राह्मण भी यदि दुराचारी होकर सम्पूर्ण संकर जातियोंके घर भोजन करने लगे तो वह ब्राह्मणत्वका परित्याग करके वैसा ही शूद्र बन जाता है॥ ४७॥

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्॥ ४८॥

देवि! शूद्र भी यदि जितेन्द्रिय होकर पवित्र कर्मोंके अनुष्ठानसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह द्विजकी ही भाँति सेव्य होता है—यह साक्षात् ब्रह्माजीका कथन है॥ ४८॥

स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः॥ ४९॥

मेरा तो ऐसा विचार है कि यदि शूद्रके स्वभाव और कर्म दोनों ही उत्तम हों तो वह द्विजातिसे भी बढ़कर माननेयोग्य है॥ ४९॥

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥ ५०॥

ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिमें न तो केवल योनि, न संस्कार, न शास्त्रज्ञान और न संतति ही कारण है। ब्राह्मणत्वका प्रधान हेतु तो सदाचार ही है॥ ५०॥

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥ ५१॥

लोकमें यह सारा ब्राह्मणसमुदाय सदाचारसे ही अपने पदपर बना हुआ है। सदाचारमें स्थित रहनेवाला शूद्र भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो सकता है॥ ५१॥

ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि समः सर्वत्र मे मतिः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः॥ ५२॥

सुश्रोणि! ब्रह्मका स्वभाव सर्वत्र समान है। जिसके भीतर उस निर्गुण और निर्मल ब्रह्मका ज्ञान है, वही वास्तवमें ब्राह्मण है, ऐसा मेरा विचार है॥ ५२॥

एते योनिफला देवि स्थानभागनिदर्शकाः।
स्वयं च वरदेनोक्ता ब्रह्मणा सृजता प्रजाः॥ ५३॥

देवि! ये जो चारों वर्णोंके स्थान और विभाग बतलाये गये हैं, ये उस-उस जातिमें जन्म ग्रहण करनेके फल हैं। प्रजाकी सृष्टि करते समय वरदाता ब्रह्माजीने स्वयं ही यह बात कही है॥ ५३॥

ब्राह्मणोऽपि महत् क्षेत्रं लोके चरति पादवत्।
यत् तत्र बीजं वपति सा कृषिः प्रेत्य भाविनि॥ ५४॥

भामिनि! ब्राह्मण संसारमें एक महान् क्षेत्र है। दूसरे क्षेत्रोंकी अपेक्षा इसमें विशेषता इतनी ही है कि यह पैरोंसे युक्त चलता-फिरता खेत है। इस क्षेत्रमें जो बीज डाला जाता है, वह परलोकके लिये जीविकाकी साधनरूप खेतीके रूपमें परिणत हो जाता है॥ ५४॥

विघसाशिना सदा भाव्यं सत्पथालम्बिना तथा।
ब्राह्मं हि मार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता॥ ५५॥

अपना कल्याण चाहनेवाले ब्राह्मणको उचित है कि वह सज्जनोंके मार्गका अवलम्बन करके सदा अतिथि और पोष्यवर्गको भोजन करानेके बाद अन्न ग्रहण करे, वेदोक्त पथका आश्रय लेकर उत्तम बर्ताव करे॥ ५५॥

संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना।
नित्यं स्वाध्यायिना भाव्यं न चाध्ययनजीविना॥ ५६॥

गृहस्थ ब्राह्मण घरमें रहकर प्रतिदिन संहिताका पाठ और शास्त्रोंका स्वाध्याय करे। अध्ययनको जीविकाका साधन न बनावे॥ ५६॥

एवंभूतो हि यो विप्रः सत्पथं सत्पथे स्थितः।
आहिताग्निरधीयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५७॥

इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्मार्गपर स्थित हो सत्पथका ही अनुसरण करता है तथा अग्निहोत्र एवं स्वाध्यायपूर्वक जीवन बिताता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥ ५७॥

ब्राह्मण्यं देवि सम्प्राप्य रक्षितव्यं यतात्मना।
योनिप्रतिग्रहादानैः कर्मभिश्च शुचिस्मिते॥ ५८॥

देवि! शुचिस्मिते! मनुष्यको चाहिये कि वह ब्राह्मणत्वको पाकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते

हुए योनि, प्रतिग्रह और दानकी शुद्धि एवं सत्कर्मोंद्वारा उसकी रक्षा करे॥ ५८॥

एतत् ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद् द्विजः।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद् यथा शूद्रत्वमाप्नुते॥ ५९॥

गिरिराजकुमारी! शूद्र धर्माचरण करनेसे जिस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त करता है तथा ब्राह्मण स्वधर्मका त्याग करके जातिसे भ्रष्ट होकर जिस प्रकार शूद्र हो जाता है, यह गूढ़ रहस्यकी बात मैंने तुम्हें बतला दी॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४३॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्धन-मुक्ति, स्वर्ग, नरक एवं दीर्घायु और अल्पायु प्रदान करनेवाले शरीर, वाणी और मनद्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेश देवासुरनमस्कृत।
धर्माधर्मौ नृणां देव ब्रूहि मेऽसंशयं विभो॥ १॥

उमाने पूछा—भगवन्! सर्वभूतेश्वर देवासुरवन्दित देव! विभो! अब मुझे धर्म और अधर्मका स्वरूप बताइये; जिससे उनके विषयमें मेरा संदेह दूर हो जाय॥ १॥

कर्मणा मनसा वाचा त्रिविधं हि नरः सदा।
बध्यते बन्धनैः पाशैर्मुच्यतेऽप्यथवा पुनः॥ २॥

मनुष्य मन, वाणी और क्रिया—इन तीन प्रकारके बन्धनोंसे सदा बँधता है और फिर उन बन्धनोंसे मुक्त होता है॥ २॥

केन शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः॥ ३॥

प्रभो! किस शील-स्वभावसे, किस बर्तावसे, कैसे कर्मसे तथा किन सदाचारों अथवा गुणोंद्वारा मनुष्य बँधते, मुक्त होते एवं स्वर्गमें जाते हैं॥ ३॥

श्रीमहेश्वर उवाच

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्धनः॥ ४॥

श्रीमहेश्वरने कहा—धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाली, सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली, इन्द्रियसंयम-परायणे देवि! तुम्हारा प्रश्न समस्त प्राणियोंके लिये हितकर तथा बुद्धिको बढ़ानेवाला है, इसका उत्तर सुनो॥

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५॥

जो मनुष्य धर्मसे उपार्जित किये हुए धनको भोगते हैं, सम्पूर्ण आश्रमसम्बन्धी चिह्नोंसे बिलग रहकर भी सत्य, धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं॥ ५॥

नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः॥ ६॥

जिनके सब प्रकारके संदेह दूर हो गये हैं, जो प्रलय और उत्पत्तिके तत्त्वको जाननेवाले, सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा हैं, वे महात्मा न तो धर्मसे बँधते हैं और न अधर्मसे॥ ६॥

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन॥ ७॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसीकी हिंसा नहीं करते हैं और जिनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी है, वे पुरुष कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित् ते न बद्ध्यन्ति कर्मभिः।
प्राणातिपाताद् विरताः शीलवन्तो दयान्विताः॥ ८॥
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः।

जो कहीं आसक्त नहीं होते, किसीके प्राणोंकी हत्यासे दूर रहते हैं तथा जो सुशील और दयालु हैं, वे भी कर्मोंके बन्धनोंमें नहीं पड़ते, जिनके लिये शत्रु और प्रिय मित्र दोनों समान हैं, वे जितेन्द्रिय पुरुष कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं॥ ८½॥

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु॥ ९॥
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो सब प्राणियोंपर दया करनेवाले, सब जीवोंके विश्वासपात्र तथा हिंसामय आचरणोंको त्याग देनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥ ९½॥

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः॥ १०॥
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो दूसरोंके धनपर ममता नहीं रखते, परायी स्त्रीसे सदा दूर रहते और धर्मके द्वारा प्राप्त किये अन्नका ही

भोजन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ १०½॥

मातृवत् स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये॥ ११॥
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो मानव परायी स्त्रीको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर तदनुरूप बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ ११½॥

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेन च॥ १२॥
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो सदा अपने ही धनसे संतुष्ट रहकर चोरी-चमारीसे अलग रहते हैं तथा जो अपने भाग्यपर ही भरोसा रखकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ १२½॥

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः॥ १३॥
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो अपनी ही स्त्रीमें अनुरक्त रहकर ऋतुकालमें ही उसके साथ समागम करते हैं और ग्राम्य सुख-भोगोंमें आसक्त नहीं होते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ १३½॥

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः॥ १४॥
जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।

जो अपने सदाचारके द्वारा सदा ही परायी स्त्रियोंकी ओरसे अपनी आँखें बंद किये रहते हैं, वे जितेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥ १४½॥

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः॥ १५॥
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः।

यह देवताओंका बनाया हुआ मार्ग है। राग और द्वेषको दूर करनेके लिये इस मार्गकी प्रवृत्ति हुई है। अतः साधारण मनुष्यों तथा विद्वान् पुरुषोंको भी सदा ही इसका सेवन करना चाहिये॥ १५½॥

दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः॥ १६॥
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः॥ १७॥

यह दान, धर्म और तपस्यासे युक्त तथा शील, शौच और दयामय मार्ग है। मनुष्यको जीविका एवं धर्मके लिये सदा ही इस मार्गका सेवन करना चाहिये। जो स्वर्गलोकमें निवास करना चाहता हो, उनके लिये सेवन करनेयोग्य इससे बढ़कर उत्कृष्ट मार्ग नहीं है॥

उमोवाच

वाचा तु बद्ध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ॥ १८॥

उमाने पूछा—निष्पाप भूतनाथ! महादेव! कैसी वाणी बोलने अथवा उस वाणीद्वारा कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता या उस बन्धनसे छुटकारा पा जाता है? उन वाचिक कर्मोंका मुझसे वर्णन कीजिये॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात् तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥ १९॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो हँसी और परिहासका सहारा लेकर भी अपने या दूसरेके लिये कभी झूठ नहीं बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ १९॥

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २०॥

जो आजीविका अथवा धर्मके लिये तथा स्वेच्छाचारसे भी कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ २०॥

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २१॥

जो स्निग्ध, मधुर, बाधारहित और पापशून्य तथा स्वागत-सत्कारके भावसे युक्त वाणी बोलते हैं, वे मानव स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ २१॥

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २२॥

जो किसीकी चुगली नहीं खाते और कभी किसीसे रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात मुँहसे नहीं निकालते, वे सज्जन पुरुष स्वर्गमें जाते हैं॥ २२॥

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २३॥

जो दो मित्रोंमें फूट डालनेवाली चुगलीकी बातें नहीं करते हैं, सत्य और मैत्रीभावसे युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ २३॥

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २४॥

जो मानव दूसरोंसे तीखी बातें बोलना और द्रोह करना छोड़ देते हैं, सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं॥

शठप्रलापाद् विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २५॥

जिनके मुँहसे कभी शठतापूर्ण बात नहीं निकलती, जो विरोधयुक्त वाणीका त्याग करते हैं और सदा सौम्य (कोमल) वाणी बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

न कोपाद् व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥ २६॥

जो क्रोधमें आकर भी हृदयको विदीर्ण करनेवाली बात मुँहसे नहीं निकालते हैं तथा क्रुद्ध होनेपर भी सान्त्वनापूर्ण वचन ही बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ २६॥

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः॥ २७॥

देवि! यह वाणीजनित धर्म बताया गया है। मनुष्योंको सदा इसका सेवन करना चाहिये। विद्वानोंको उचित है कि वे सदा शुभ और सत्य वचन बोलें तथा मिथ्याका परित्याग करें*॥ २७॥

उमोवाच

मनसा बद्ध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृत्॥ २८॥

उमाने पूछा—महाभाग! पिनाकधारी देवदेव! जिस मानसिक कर्मसे मनुष्य सदा बन्धनमें पड़ता है, उसको मुझे बताइये॥ २८॥

श्रीमहेश्वर उवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु॥ २९॥

श्रीमहेश्वरने कहा—कल्याणि! जो सदा मानसिक धर्मसे युक्त हैं अर्थात् मनसे धर्मका ही चिन्तन और आचरण करते हैं, वे पुरुष स्वर्गमें जाते हैं। मैं इस विषयमें जो बताता हूँ, उसे सुनो॥ २९॥

दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततरा कृतिः।
मनो बद्ध्यति येनेह शृणु वाक्यं शुभानने॥ ३०॥

शुभानने! मनमें दुर्विचार आनेसे मनुष्यके कार्य भी दुर्नीतिपूर्ण एवं दूषित होते हैं, जिससे मन बन्धनमें पड़ जाता है। इस विषयमें मेरी बात सुनो॥ ३०॥

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३१॥

जब दूसरेका धन निर्जन वनमें पड़ा हुआ दिखायी दे, उस समय भी जो उसकी ओर मन ललचाकर किसीकी हिंसा नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३२॥

गाँव या घरके एकान्त स्थानमें पड़े हुए पराये धनका जो कभी अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं॥ ३२॥

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३३॥

इसी प्रकार जो मनुष्य एकान्तमें प्राप्त हुई कामासक्त परायी स्त्रियोंको मनसे भी उनके साथ अन्याय करनेका विचार नहीं करते, वे स्वर्गगामी होते हैं॥ ३३॥

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३४॥

जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखकर सबसे मिलते तथा शत्रु और मित्रको भी सदा समान हृदयसे अपनाते हैं, वे मानव स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ ३४॥

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३५॥

जो शास्त्रज्ञ, दयालु, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ और अपने ही धनसे संतुष्ट होते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ ३५॥

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३६॥

जिनके मनमें किसीके प्रति वैर नहीं है, जो आयासरहित, मैत्रीभावसे पूर्ण हृदयवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति सदा ही दयाभाव रखनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥ ३६॥

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३७॥

जो श्रद्धालु, दयालु, शुद्ध, शुद्धजनोंके प्रेमी तथा धर्म और अधर्मके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३८॥

देवि! जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फल-संचयके विषयमें परिणामके ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं॥ ३८॥

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ३९॥

जो न्यायशील, गुणवान्, देवताओं और द्विजोंके भक्त तथा उत्थानको प्राप्त हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं॥ ३९॥

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः।
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि॥ ४०॥

---

* उपर्युक्त कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले पुरुषको परमात्मपदकी प्राप्ति हो जाती है।

देवि! जो शुभ कर्मोंके फलोंसे स्वर्गलोकके मार्गमें स्थित हैं, उनका वर्णन मैंने यहाँ किया है। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो?॥ ४०॥

उमोवाच

महान् मे संशयः कश्चिन्मर्त्यान् प्रति महेश्वर।
तस्मात् त्वं नैपुणेनाद्य मम व्याख्यातुमर्हसि॥ ४१॥

उमाने पूछा—महेश्वर! मुझे मनुष्योंके विषयमें एक महान् संशय है। आप अच्छी तरह उस संशयका समाधान करें॥ ४१॥

केनायुर्लभते दीर्घं कर्मणा पुरुषः प्रभो।
तपसा वापि देवेश केनायुर्लभते महत्॥ ४२॥

प्रभो! मनुष्य किस कर्मसे दीर्घायु प्राप्त करता है? तथा देवेश्वर! किस तपस्यासे मनुष्यको बड़ी आयु प्राप्त होती है?॥ ४२॥

क्षीणायुः केन भवति कर्मणा भुवि मानवः।
विपाकं कर्मणां देव वक्तुमर्हस्यनिन्दित॥ ४३॥

अनिन्द्य महादेव! इस भूतलपर कौन-सा कर्म करनेसे मनुष्यकी आयु क्षीण हो जाती है? आप मुझसे कर्म-विपाकका वर्णन करें॥ ४३॥

अपरे च महाभाग्या मन्दभाग्यास्तथापरे।
अकुलीनास्तथा चान्ये कुलीनाश्च तथापरे॥ ४४॥

इस जगत्में कुछ लोग महान् भाग्यशाली हैं तो कुछ लोग मन्दभाग्य हैं, कुछ लोग निन्दित कुलमें उत्पन्न हैं तो दूसरे लोग उच्चकुलमें॥ ४४॥

दुर्दर्शाः केचिदाभान्ति नराः काष्ठमया इव।
प्रियदर्शास्तथा चान्ये दर्शनादेव मानवाः॥ ४५॥

कुछ मनुष्य दुर्दशाके मारे काष्ठमय (जडवत्) प्रतीत हो रहे हैं, उनकी ओर देखना कठिन जान पड़ता है और दूसरे कितने ही मनुष्य दर्शनमात्रसे मन प्रसन्न कर देते हैं, उनकी ओर देखना प्रिय लगता है॥ ४५॥

दुष्प्रज्ञाः केचिदाभान्ति केचिदाभान्ति पण्डिताः।
महाप्राज्ञास्तथैवान्ये ज्ञानविज्ञानभाविनः॥ ४६॥

कुछ लोग दुर्बुद्धि जान पड़ते हैं और कुछ विद्वान् तथा कितने ही ज्ञान-विज्ञानशाली महाप्राज्ञ प्रतीत होते हैं॥ ४६॥

अल्पाबाधास्तथा केचिन्महाबाधास्तथापरे।
दृश्यन्ते पुरुषा देव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ४७॥

देव! कुछ लोग साधारण एवं स्वल्प बाधाओंसे ग्रस्त होते हैं और कुछ लोगोंको बड़ी-बड़ी बाधाएँ घेरे रहती हैं। इस तरह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी विषम अवस्थामें पड़े हुए पुरुष दिखायी देते हैं, उनकी इस विषमताका क्या कारण है? यह मुझे विस्तारपूर्वक बताइये॥ ४७॥

श्रीमहेश्वर उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि देवि कर्मफलोदयम्।
मर्त्यलोके नरः सर्वो येन स्वफलमश्नुते॥ ४८॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें बता रहा हूँ कि कर्मके फलका उदय किस प्रकार होता है और मर्त्यलोकके सभी मनुष्य किस प्रकार अपनी-अपनी करनीका फल भोगते हैं॥ ४८॥

प्राणातिपाते यो रौद्रो दण्डहस्तोद्यतः सदा।
नित्यमुद्यतशस्त्रश्च हन्ति भूतगणान् नरः॥ ४९॥
निर्दयः सर्वभूतानां नित्यमुद्वेगकारकः।
अपि कीटपिपीलानामशरण्यः सुनिर्घृणः॥ ५०॥
एवंभूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते।

देवि! जो मनुष्य दूसरोंका प्राण लेनेके लिये हाथमें डंडा लेकर सदा भयंकर रूप धारण किये रहता है, जो प्रतिदिन हथियार उठाये जगत्के प्राणियोंकी हत्या किया करता है, जिसके भीतर किसीके प्रति दया नहीं होती, जो समस्त प्राणियोंको सदा उद्वेगमें डाले रहता है और जो अत्यन्त क्रूर होनेके कारण चींटी और कीड़ोंको भी शरण नहीं देता, ऐसा मानव घोर नरकमें पड़ता है॥ ४९-५०½॥

विपरीतस्तु धर्मात्मा रूपवानभिजायते॥ ५१॥
पापेन कर्मणा देवि वध्यो हिंसारतिर्नरः।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते॥ ५२॥

जिसका स्वभाव इसके विपरीत है, वह धर्मात्मा और रूपवान् होता है। देवि! हिंसाप्रेमी मनुष्य अपने पापकर्मके कारण दूसरोंका वध्य, सब प्राणियोंका अप्रिय तथा अल्पायु होता है॥ ५१-५२॥

निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः।
यातनां निरये रौद्रां स कृच्छ्रां लभते नरः॥ ५३॥

जिसका चित्त हिंसामें लगा होता है, वह नरकमें गिरता है और जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह स्वर्गमें जाता है। नरकमें पड़े हुए जीवको बड़ी कष्टदायक और भयंकर यातना भोगनी पड़ती है॥ ५३॥

यः कश्चिन्निरयात् तस्मात् समुत्तरति कर्हिचित्।
मानुष्यं लभते चापि हीनायुस्तत्र जायते॥ ५४॥

यदि कभी कोई उस नरकसे छुटकारा पाता है तो मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है, किंतु वहाँ उसकी आयु

बहुत थोड़ी होती है॥ ५४॥

पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नरः।
अप्रियः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते॥ ५५॥

देवि! पापकर्मसे बँधा हुआ हिंसापरायण मनुष्य समस्त प्राणियोंका अप्रिय होनेके कारण अल्पायु हो जाता है॥ ५५॥

यस्तु शुक्लाभिजातीयः प्राणिघातविवर्जकः।
निक्षिप्तशस्त्रो निर्दण्डो न हिंसति कदाचन॥ ५६॥
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते।
सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथापरे॥ ५७॥
ईदृशः पुरुषोत्कर्षो देवि देवत्वमश्नुते।
उपपन्नान् सुखान् भोगानुपाश्नाति मुदा युतः॥ ५८॥

इसके विपरीत जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न और जीवहिंसासे अलग रहनेवाला है, जिसने शस्त्र और दण्डका परित्याग कर दिया है, जिसके द्वारा कभी किसीकी हिंसा नहीं होती, जो न मारता है, न मारनेकी आज्ञा देता है और न मारनेवालेका अनुमोदन ही करता है। जिसके मनमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह बना रहता है तथा जो अपने ही समान दूसरोंपर भी दयादृष्टि रखता है। देवि! ऐसा श्रेष्ठ पुरुष देवत्वको प्राप्त होता है और देवलोकमें प्रसन्नतापूर्वक स्वतः उपलब्ध हुए सुखद भोगोंका अनुभव करता है॥ ५६—५८॥

अथ चेन्मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते।
तत्र दीर्घायुरुत्पन्नः स नरः सुखमेधते॥ ५९॥

अथवा यदि कदाचित् वह मनुष्यलोकमें जन्म लेता है तो वह मनुष्य दीर्घायु और सुखी होता है॥ ५९॥

एष दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मिणाम्।
प्राणिहिंसाविमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः॥ ६०॥

यह सत्कर्मका अनुष्ठान करनेवाले सदाचारी एवं दीर्घजीवी मनुष्योंका लक्षण है। स्वयं ब्रह्माजीने इस मार्गका उपदेश किया है। समस्त प्राणियोंकी हिंसाका परित्याग करनेसे ही इसकी उपलब्धि होती है॥ ६०॥

इति श्रीमहाभारते अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्वणि उमामहेश्वरसंवादे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्वमें उमामहेश्वरसंवादविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४४॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्ग और नरक तथा उत्तम और अधम कुलमें जन्मकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंका वर्णन

उमोवाच

किंशीलः किंसमाचारः पुरुषः कैश्च कर्मभिः।
स्वर्गं समभिपद्येत सम्प्रदानेन केन वा॥ १॥

पार्वतीने पूछा—भगवन्! मनुष्य किस प्रकारके शील, कैसे सदाचार और किन कर्मोंसे युक्त होकर अथवा किस दानके द्वारा स्वर्गमें जाता है॥ १॥

श्रीमहेश्वर उवाच

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता दीनार्तकृपणादिषु।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानां वाससां च प्रदायकः॥ २॥
प्रतिश्रयान् सभाः कूपान् प्रपाः पुष्करिणीस्तथा।
नैत्यकानि च सर्वाणि किमिच्छकमतीव च॥ ३॥
आसनं शयनं यानं गृहं रत्नं धनं तथा।
सस्यजातानि सर्वाणि गाः क्षेत्राण्यथ योषितः॥ ४॥
सुप्रतीतमना नित्यं यः प्रयच्छति मानवः।
एवंभूतो नरो देवि देवलोकेऽभिजायते॥ ५॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! जो मनुष्य ब्राह्मणोंका सम्मान और दान करता है, दीन, दुःखी और दरिद्र आदि मनुष्योंको भक्ष्य-भोज्य, अन्न-पान और वस्त्र प्रदान करता है, ठहरनेके स्थान, धर्मशाला, कुआँ, प्याऊ, पोखरी या बावड़ी आदि बनवाता है, लेनेवाले लोगोंकी इच्छा पूछ-पूछकर नित्य देनेयोग्य वस्तुएँ दान करता है, समस्त नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता है, आसन, शय्या, सवारी, गृह, रत्न, धन, धान्य, गौ, खेत और कन्याओंका प्रसन्नतापूर्वक दान करता है, देवि! ऐसा मनुष्य देवलोकमें जन्म लेता है॥ २—५॥

तत्रोष्य सुचिरं कालं भुक्त्वा भोगाननुत्तमान्।
सहाप्सरोभिर्मुदितो रमते नन्दनादिषु॥ ६॥

वहाँ चिरकालतक निवास करके उत्तम भोगोंका भोग करते हुए नन्दन आदि वनोंमें अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रमण करता है॥ ६॥

तस्मात् स्वर्गाच्च्युतो लोकान् मानुषेषु प्रजायते।
महाभोगकुले देवि धनधान्यसमन्वितः॥ ७॥

देवि! फिर वह स्वर्गलोकसे नीचे आनेपर मनुष्य-जातिके भीतर महान् भोगोंसे सम्पन्न कुलमें जन्म लेता है और धन-धान्यसे सम्पन्न होता है॥ ७॥

तत्र कामगुणैः सर्वैः समुपेतो मुदा युतः।
महाभोगो महाकोशो धनी भवति मानवः॥ ८॥

मानवयोनिमें वह समस्त कमनीय गुणोंसे सम्पन्न एवं प्रसन्न होता है। उसके पास महान् भोगसामग्री संचित रहती है। उसका खजाना भी विशाल होता है। वह मनुष्य सभी दृष्टियोंसे धनवान् होता है॥ ८॥

एते देवि महाभागाः प्राणिनो दानशीलिनः।
ब्रह्मणा वै पुरा प्रोक्ताः सर्वस्य प्रियदर्शनाः॥ ९॥

देवि! ये दानशील प्राणी ही ऐसे महान् सौभाग्यसे सम्पन्न होते हैं। पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनका ऐसा ही परिचय दिया है। दाता मनुष्य सभीकी दृष्टिमें प्रिय होते हैं॥

अपरे मानवा देवि प्रदानकृपणा द्विजैः।
याचिता न प्रयच्छन्ति विद्यमानेऽप्यबुद्धयः॥ १०॥

देवि! दूसरे बहुत-से मनुष्य दान देनेमें कृपण होते हैं। वे मन्दबुद्धि मानव ब्राह्मणोंके माँगनेपर अपने पास धन होते हुए भी उन्हें कुछ नहीं देते॥ १०॥

दीनान्धकृपणान् दृष्ट्वा भिक्षुकानतिथीनपि।
याच्यमाना निवर्तन्ते जिह्वालोभसमन्विताः॥ ११॥

वे दीनों, अन्धों, दरिद्रों, भिखमंगों और अतिथियोंको देखते ही हट जाते हैं। उनके याचना करनेपर भी जिह्वाकी लोलुपताके कारण उन्हें अन्न नहीं देते॥ ११॥

न धनानि न वासांसि न भोगान् न च काञ्चनम्।
न गावो नान्नविकृतिं प्रयच्छन्ति कदाचन॥ १२॥

वे न धन, न वस्त्र, न भोग, न सुवर्ण, न गौ और न अन्नकी बनी हुई नाना प्रकारकी खाद्य वस्तुओंका कभी दान करते हैं॥ १२॥

अप्रवृत्ताश्च ये लुब्धा नास्तिका दानवर्जिताः।
एवंभूता नरा देवि निरयं यान्त्यबुद्धयः॥ १३॥

देवि! ऐसे अकर्मण्य, लोभी, नास्तिक तथा दानधर्मसे दूर रहनेवाले बुद्धिहीन मनुष्य नरकमें पड़ते हैं॥ १३॥

ते वै मनुष्यतां यान्ति यदा कालस्य पर्ययात्।
धनरिक्ते कुले जन्म लभन्ते स्वल्पबुद्धयः॥ १४॥

यदि कालचक्रके फेरसे वे मन्दबुद्धि मानव पुनः मनुष्ययोनिमें जन्म लेते हैं तो निर्धन कुलमें ही उत्पन्न होते हैं॥ १४॥

क्षुत्पिपासापरीताश्च सर्वलोकबहिष्कृताः।
निराशाः सर्वभोगेभ्यो जीवन्त्यधर्मजीविकाम्॥ १५॥

वहाँ सदा भूख-प्यासका कष्ट सहते हैं। सब लोग उन्हें समाजसे बाहर कर देते हैं तथा वे सब प्रकारके भोगोंसे निराश होकर पापाचारसे जीविका चलाते हैं॥ १५॥

अल्पभोगकुले जाता अल्पभोगरता नराः।
अनेन कर्मणा देवि भवन्त्यधनिनो नराः॥ १६॥

देवि! इस पापकर्मसे ही मनुष्य अल्प भोगवाले कुलमें जन्म लेता है, थोड़े-से ही भोग भोगते और सदा निर्धन रहते हैं॥ १६॥

अपरे स्तम्भिनो नित्यं मानिनः पापतो रताः।
आसनार्हस्य ये पीठं न प्रयच्छन्त्यचेतसः॥ १७॥

इनके सिवा दूसरे भी ऐसे मनुष्य हैं, जो सदा गर्व और अभिमानमें फूले तथा पापमें रत रहते हैं। वे मूर्ख आसन देनेयोग्य पूज्य पुरुषको बैठनेके लिये कोई पीढ़ा या चौकीतक नहीं देते हैं॥ १७॥

मार्गार्हस्य च ये मार्गं न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
पाद्यार्हस्य च ये पाद्यं न ददत्यल्पबुद्धयः॥ १८॥

वे बुद्धिहीन अथवा मन्दबुद्धि पुरुष मार्ग देनेयोग्य पुरुषोंको जानेके लिये मार्ग नहीं देते और पाद्य अर्पण करनेयोग्य पूजनीय पुरुषोंको पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) नहीं देते हैं॥ १८॥

अर्घ्यार्हान् न च सत्कारैरर्चयन्ति यथाविधि।
अर्घ्यमाचमनीयं वा न यच्छन्त्यल्पबुद्धयः॥ १९॥

इतना ही नहीं, वे अर्घ्य देनेयोग्य माननीय व्यक्तियोंका नाना प्रकारके सत्कारोंद्वारा विधिपूर्वक पूजन नहीं करते अथवा वे मूर्ख उन्हें अर्घ्य या आचमनीय नहीं देते हैं॥ १९॥

गुरुं चाभिगतं प्रेम्णा गुरुवन्न बुभूषते।
अभिमानप्रवृत्तेन लोभेन समवस्थिताः॥ २०॥
सम्मान्यांश्चावमन्यन्ते वृद्धान् परिभवन्ति च।
एवंविधा नरा देवि सर्वे निरयगामिनः॥ २१॥

गुरुके आनेपर प्रेमपूर्वक उनकी पूजा नहीं करते—उन्हें गुरुवत् सम्मान नहीं देना चाहते, अभिमान और लोभके वशीभूत होकर वे सम्माननीय मनुष्योंका अपमान और बड़े-बूढ़ोंका तिरस्कार करते हैं। देवि! ऐसा करनेवाले सभी मनुष्य नरकगामी होते हैं॥ २०-२१॥

ते वै यदि नरास्तस्मान्निरयादुत्तरन्ति वै।
वर्षपूगैस्ततो जन्म लभन्ते कुत्सिते कुले॥ २२॥
श्वपाकपुल्कसादीनां कुत्सितानामचेतसाम्।
कुलेषु तेषु जायन्ते गुरुवृद्धापचायिनः॥ २३॥

बहुत वर्षोंके बाद जब वे उस नरकसे छुटकारा पाते हैं तो श्वपाक और पुल्कस आदि निन्दित और मूढ़ मनुष्योंके कुत्सित कुलमें जन्म लेते हैं। गुरुजनों और वृद्धोंका तिरस्कार करनेवाले वे अधम मानव चाण्डालोंके उन्हीं निन्दित कुलोंमें उत्पन्न होते हैं॥ २२-२३॥

न स्तम्भी न च मानी यो देवताद्विजपूजकः।
लोकपूज्यो नमस्कर्ता प्रश्रितो मधुरं वचः॥ २४॥
सर्ववर्णप्रियकरः सर्वभूतहितः सदा।
अद्वेषी सुमुखः श्लक्ष्णः स्निग्धवाणीप्रदः सदा॥ २५॥
स्वागतेनैव सर्वेषां भूतानामविहिंसकः।
यथार्हसत्क्रियापूर्वमर्चयन्नवतिष्ठति ॥ २६॥
मार्गार्हाय ददन्मार्गं गुरुं गुरुवदर्चयन्।
अतिथिप्रग्रहरतस्तथाभ्यागतपूजकः ॥ २७॥
एवंभूतो नरो देवि स्वर्गतिं प्रतिपद्यते।
ततो मानुषतां प्राप्य विशिष्टकुलजो भवेत्॥ २८॥

देवि! जो न तो उद्दण्ड है, न अभिमानी है तथा जो देवताओं और द्विजोंकी पूजा करता है, संसारके लोग जिसे पूज्य मानते हैं, जो बड़ोंको प्रणाम करनेवाला, विनयी, मीठे वचन बोलनेवाला, सब वर्णोंका प्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंका हित करनेवाला है, जिसका किसीके साथ द्वेष नहीं है, जिसका मुख प्रसन्न और स्वभाव कोमल है, जो सदा स्वागतपूर्वक स्नेहभरी वाणी बोलता है, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता तथा सबका यथायोग्य सत्कारपूर्वक पूजन करता रहता है, जो मार्ग देने योग्य पुरुषोंको मार्ग देता और गुरुका उसके योग्य समादर करता है, अतिथियोंको आमन्त्रित करके उनकी सेवामें लगा रहता तथा स्वयं आये हुए अतिथियोंका भी पूजन करता है, ऐसा मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है। तत्पश्चात् मानव-योनिमें आकर विशिष्ट कुलमें जन्म लेता है॥ २४—२८॥

तत्रासौ विपुलैर्भोगैः सर्वरत्नसमायुतः।
यथार्हदाता चार्हेषु धर्मचर्यापरो भवेत्॥ २९॥

उस जन्ममें वह महान् भोगों और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न हो सुयोग्य ब्राह्मणोंको यथायोग्य दान देता और धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहता है॥ २९॥

सम्मतः सर्वभूतानां सर्वलोकनमस्कृतः।
स्वकर्मफलमाप्नोति स्वयमेव नरः सदा॥ ३०॥

वहाँ सब प्राणी उसका सम्मान करते हैं और सब लोग उसके सामने नतमस्तक होते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने कर्मोंका फल सदा स्वयं ही भोगता है॥ ३०॥

उदात्तकुलजातीय उदात्ताभिजनः सदा।
एष धर्मो मया प्रोक्तो विधात्रा स्वयमीरितः॥ ३१॥

धर्मात्मा मनुष्य सर्वदा उत्तम कुल, उत्तम जाति और उत्तम स्थानमें जन्म धारण करता है। यह साक्षात् ब्रह्माजीके बताये हुए धर्मका मैंने वर्णन किया है॥ ३१॥

यस्तु रौद्रसमाचारः सर्वसत्त्वभयंकरः।
हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्ज्वा दण्डेन वा पुनः॥ ३२॥
लोष्टैः स्तम्भैरायुधैर्वा जन्तून् बाधति शोभने।
हिंसार्थं निकृतिप्रज्ञः प्रोद्वेजयति चैव ह॥ ३३॥
उपक्रामति जन्तूंश्च उद्वेगजननः सदा।
एवंशीलसमाचारो निरयं प्रतिपद्यते॥ ३४॥

शोभने! जिस मनुष्यका आचरण क्रूरतासे भरा हुआ है, जिससे समस्त जीवोंको भय प्राप्त होता है, जो हाथ, पैर, रस्सी, डंडे और ढेलेसे मारकर, खम्भोंमें बाँधकर तथा घातक शस्त्रोंका प्रहार करके जीव-जन्तुओंको सताता है, छल-कपटमें प्रवीण होकर हिंसाके लिये उन जीवोंमें उद्वेग पैदा करता है तथा उद्वेगजनक होकर सदा उन जन्तुओंपर आक्रमण करता है, ऐसे स्वभाव और आचारवाले मनुष्यको नरकमें गिरना पड़ता है॥

स वै मनुष्यतां गच्छेद् यदि कालस्य पर्ययात्।
बह्वाबाधपरिक्लिष्टे जायते सोऽधमे कुले॥ ३५॥

यदि वह कालचक्रके फेरसे फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे कष्ट उठानेवाले अधम कुलमें उत्पन्न होता है॥ ३५॥

लोकद्वेष्योऽधमः पुंसां स्वयं कर्मफलैः कृतैः।
एष देवि मनुष्येषु बोद्धव्यो ज्ञातिबन्धुषु॥ ३६॥

देवि! ऐसा मनुष्य अपने ही किये हुए कर्मोंके फलके अनुसार मनुष्योंमें तथा जाति-बन्धुओंमें नीच समझा जाता है और सब लोग उससे द्वेष रखते हैं॥

अपरः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति।
मैत्रदृष्टिः पितृसमो निर्वैरो नियतेन्द्रियः॥ ३७॥
नोद्वेजयति भूतानि न विघातयते तथा।
हस्तपादैः सुनियतैर्विश्वास्यः सर्वजन्तुषु॥ ३८॥
न रज्ज्वा न च दण्डेन न लोष्टैर्नायुधेन च।
उद्वेजयति भूतानि श्लक्ष्णकर्मा दयापरः॥ ३९॥
एवंशीलसमाचारः स्वर्गे समुपजायते।
तत्रासौ भवने दिव्ये मुदा वसति देववत्॥ ४०॥

इसके विपरीत जो मनुष्य सब प्राणियोंके प्रति दयादृष्टि रखता है, सबको मित्र समझता है, सबके ऊपर पिताके समान स्नेह रखता है, किसीके साथ वैर

नहीं करता और इन्द्रियोंको वशमें किये रहता है, जो हाथ-पैर आदिको अपने अधीन रखकर किसी भी जीवको न तो उद्वेगमें डालता और न मारता ही है, जिसपर सब प्राणी विश्वास करते हैं, जो रस्सी, डंडे, ढेले और घातक अस्त्र-शस्त्रोंसे प्राणियोंको कष्ट नहीं पहुँचाता, जिसके कर्म कोमल एवं निर्दोष होते हैं तथा जो सदा ही दयापरायण होता है, ऐसे स्वभाव और आचरणवाला पुरुष स्वर्गलोकमें दिव्य शरीर धारण करता है और वहाँके दिव्य भवनमें देवताओंके समान आनन्दपूर्वक निवास करता है॥ ३७—४०॥

स चेत् कर्मक्षयान्मर्त्यो मनुष्येषूपजायते।
अल्पाबाधो निरातङ्कः स जातः सुखमेधते॥ ४१॥
सुखभागी निरायासो निरुद्वेगः सदा नरः।
एष देवि सतां मार्गो बाधा यत्र न विद्यते॥ ४२॥

फिर पुण्यकर्मोंके क्षीण होनेपर यदि वह मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तो उसके ऊपर बाधाओंका आक्रमण कम होता है। वह निर्भय हो सुखसे अपनी उन्नति करता है। सुखका भागी होकर आयास और उद्वेगसे रहित जीवन व्यतीत करता है। देवि! यह सत्पुरुषोंका मार्ग है, जहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा नहीं आने पाती है॥ ४१-४२॥

उमोवाच

इमे मनुष्या दृश्यन्ते ऊहापोहविशारदाः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः प्रज्ञावन्तोऽर्थकोविदाः॥ ४३॥

पार्वतीजीने पूछा—भगवन्! इन मनुष्योंमेंसे कुछ तो ऊहापोहमें कुशल, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, बुद्धिमान् और अर्थनिपुण देखे जाते हैं॥ ४३॥

दुष्प्रज्ञाश्चापरे देव ज्ञानविज्ञानवर्जिताः।
केन कर्मविशेषेण प्रज्ञावान् पुरुषो भवेत्॥ ४४॥

देव! कुछ दूसरे मानव ज्ञान-विज्ञानसे शून्य और दुर्बुद्धि दिखायी देते हैं। ऐसी दशामें मनुष्य कौन-सा विशेष कर्म करनेसे बुद्धिमान् हो सकता है?॥ ४४॥

अल्पप्रज्ञो विरूपाक्ष कथं भवति मानवः।
एतन्मे संशयं छिन्धि सर्वधर्मविदां वर॥ ४५॥

विरूपाक्ष! मनुष्य मन्दबुद्धि कैसे होता है? सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महादेव! आप मेरे इस संदेहका निवारण कीजिये॥ ४५॥

जात्यन्धाश्चापरे देव रोगार्ताश्चापरे तथा।
नराः क्लीबाश्च दृश्यन्ते कारणं ब्रूहि तत्र वै॥ ४६॥

देव! कुछ लोग जन्मान्ध, कुछ रोगसे पीड़ित और कितने ही नपुंसक देखे जाते हैं। इसका क्या कारण है? यह मुझे बताइये॥ ४६॥

श्रीमहेश्वर उवाच

ब्राह्मणान् वेदविदुषः सिद्धान् धर्मविदस्तथा।
परिपृच्छन्त्यहरहः कुशलाः कुशलं तथा॥ ४७॥
वर्जयन्तोऽशुभं कर्म सेवमानाः शुभं तथा।
लभन्ते स्वर्गतिं नित्यमिहलोके तथा सुखम्॥ ४८॥

श्रीमहादेवजीने कहा—देवि! जो कुशल मनुष्य सिद्ध, वेदवेत्ता और धर्मज्ञ ब्राह्मणोंसे प्रतिदिन उनकी कुशल पूछते हैं और अशुभ कर्मका परित्याग करके शुभकर्मका सेवन करते हैं, वे परलोकमें स्वर्ग और इहलोकमें सदा सुख पाते हैं॥ ४७-४८॥

स चेन्मानुषतां याति मेधावी तत्र जायते।
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य कल्याणमुपजायते॥ ४९॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष यदि स्वर्गसे लौटकर फिर मनुष्ययोनिमें आता है तो वह मेधावी होता है। शास्त्र उसकी बुद्धिका अनुसरण करता है, अतः वह सदा कल्याणका भागी होता है॥ ४९॥

परदारेषु ये चापि चक्षुर्दुष्टं प्रयुञ्जते।
तेन दुष्टस्वभावेन जात्यन्धास्ते भवन्ति ह॥ ५०॥

जो परायी स्त्रियोंके प्रति सदा दोषभरी दृष्टि डालते हैं, उस दुष्ट स्वभावके कारण वे जन्मान्ध होते हैं॥

मनसा तु प्रदुष्टेन नग्नां पश्यन्ति ये स्त्रियम्।
रोगार्तास्ते भवन्तीह नरा दुष्कृतकर्मिणः॥ ५१॥

जो दूषित हृदयसे किसी नंगी स्त्रीकी ओर निहारते हैं, वे पापकर्मी मनुष्य इस लोकमें रोगसे पीड़ित होते हैं॥ ५१॥

ये तु मूढा दुराचारा वियोनौ मैथुने रताः।
पुरुषेषु सुदुष्प्रज्ञा क्लीबत्वमुपयान्ति ते॥ ५२॥

जो दुराचारी, दुर्बुद्धि एवं मूढ़ मनुष्य पशु आदिकी योनिमें मैथुन करते हैं, वे पुरुषोंमें नपुंसक होते हैं॥

पशूंश्च ये घातयन्ति ये चैव गुरुतल्पगाः।
प्रकीर्णमैथुना ये च क्लीबा जायन्ति ते नराः॥ ५३॥

जो पशुओंकी हत्या कराते, गुरुकी शय्यापर सोते और वर्णसंकर जातिकी स्त्रियोंसे समागम करते हैं, वे मनुष्य नपुंसक होते हैं॥ ५३॥

उमोवाच

सावद्यं किन्नु वै कर्म निरवद्यं तथैव च।
श्रेयः कुर्वन्नवाप्नोति मानवो देवसत्तम॥ ५४॥

पार्वतीने पूछा—देवश्रेष्ठ! कौन सदोष कर्म हैं

और कौन निर्दोष, कौन-सा कर्म करके मनुष्य कल्याणका भागी होता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

श्रेयांसं मार्गमन्विच्छन् सदा यः पृच्छति द्विजान्।
धर्मान्वेषी गुणाकांक्षी स स्वर्गं समुपाश्नुते ॥ ५५ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—जो श्रेष्ठ मार्गको पानेकी इच्छा रखकर सदा ही ब्राह्मणोंसे उसके विषयमें पूछता है, धर्मका अन्वेषण करता और सद्गुणोंकी अभिलाषा रखता है, वही स्वर्गलोकके सुखका अनुभव करता है ॥

यदि मानुषतां देवि कदाचित् स निगच्छति।
मेधावी धारणावुक्तः प्राक्सत्त्वार्भिजायते ॥ ५६ ॥

देवि! ऐसा मनुष्य यदि कभी मानवयोनिको प्राप्त होता है तो वहाँ प्रायः मेधावी एवं धारण शक्तिसे सम्पन्न होता है ॥ ५६ ॥

एष देवि सतां धर्मो मन्तव्यो भूतिकारकः।
मृषां हितार्थाय मया तव सैष समुदाहृतः ॥ ५७ ॥

देवि! यह मानुषधर्मोका धर्म है, उसे कल्याणकारी मानना चाहिये। मैंने मनुष्योंके हितके लिये इस धर्मका तुमसे भलीभाँति उपदेश किया है ॥ ५७ ॥

उमोवाच

अपरे स्वल्पविज्ञाना धर्मविद्वेषिणो नराः।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो नेच्छन्ति परिसर्पितुम् ॥ ५८ ॥

पार्वतीने पूछा—भगवन्! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो अल्पबुद्धि होनेके कारण धर्मसे द्वेष करते हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पास नहीं जाना चाहते हैं ॥ ५८ ॥

ब्रुवतस्ते नराः केचिच्छ्रुद्धाधर्मपरायणाः।
अन्ये नष्टनिबन्धानस्तान्ये राक्षसमोपमाः ॥ ५९ ॥

कुछ मनुष्य श्रद्धालु, बहुश्रुत और धर्मपरायण होते हैं तथा दूसरे अज्ञानी, नियमभ्रष्ट तथा राक्षसोंके समान होते हैं ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्यश्च तत्रैवान्ये निहीनाश्च तथापरे।
केन कर्मविपाकेन भवन्तीह वदस्व मे ॥ ६० ॥

किसीने तो पढ़नेतक होते हैं और दूसरे मनुष्य होम और पढ़नेसे दूर ही रहते हैं। किस कर्मविपाकसे मनुष्य इस प्रकार परस्परविरोधी स्वभावके हो जाते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ६० ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

आगमा लोकधर्माणां मर्यादाः सर्वदर्शिभिः।
प्रामाण्येनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते च दृढव्रताः ॥ ६१ ॥

श्रीमहेश्वरने कहा—देवि! सबका लोकधर्मोंकी उन मर्यादाओंको स्थापित करते हैं, जो सबके हितके लिये निर्मित हुई हैं। जो उन शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं, वे दृढ़तापूर्वक उनका पालन करते देखे जाते हैं ॥

अधर्मं धर्ममित्याहुर्ये च मोहवशं गताः।
अज्ञाता नष्टमर्यादास्ते प्रोक्ता ब्रह्मराक्षसाः ॥ ६२ ॥

जो मोहके वशीभूत होकर अधर्मको धर्म कहते हैं, वे ज्ञातीन मर्यादाको नष्ट करनेवाले पुरुष ब्रह्मराक्षस कहे गये हैं ॥ ६२ ॥

ते चेत्कालकृतोद्योगात् सम्भवन्तीह मानुषाः।
निहीना निरहंवादाश्चण्डाले भवन्ति ते नराधमाः ॥ ६३ ॥

वे मनुष्य यदि कालयोगसे इस संसारमें मनुष्य होकर जन्म लेते हैं तो हीन और अहंकारसे रहित तथा नराधम होते हैं ॥ ६३ ॥

एष देवि मया धर्मः संशयच्छेदनाय ते।
कुशलाकुशलानां मृषां ज्ञानज्ञतां धर्मसङ्गरः ॥ ६४ ॥

देवि! यह धर्मका समूह, धर्मज्ञोंके लिये प्रिय और पापात्माओंके लिये अप्रिय है। मैंने तुम्हारे संदेहका निवारण करनेके लिये यह सब विस्तारपूर्वक बताया है ॥

[राजधर्मका वर्णन]

उमोवाच

देवदेव जगत्सूध्य त्रियक्ष वृषभध्वज।
श्रुतं मे भगवन् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥

उमाने कहा—देवदेव! त्रिलोचन! वृषभध्वज! भगवन्! महेश्वर! आपकी कृपासे मैंने पूर्वोक्त सब विषयोंको सुना है ॥

संगृहीतं मया ज्ञप्त्या त्वया व्याख्यमनुत्तमम्।
इदानीमस्ति संदेहो मानुषेष्विह शङ्करम् ॥

सुनकर आपके उस परम उत्तम उपदेशको मैंने बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया है। इस समय मनुष्योंके विषयमें एक संदेह ऐसा रह गया है, जिसका समाधान आवश्यक है ॥

तुल्यप्राणशिरःकायो राजायमिति दृश्यते।
केन कर्मविपाकेन सर्वत्राधान्यमश्नुते ॥

मनुष्योंमें यह जो राजा दिखायी देता है, उसके भी प्राण, सिर और धड़ दूसरे मनुष्योंके समान ही हैं; फिर किस कर्मके फलसे यह सबमें प्रधान पद पानेका अधिकारी हुआ है ? ॥

स चापि दण्डयन् मर्त्यान् भर्त्सयन् विविधाञ्छठान्।
प्रेत्यभावे कथं लोकान्लभते पुरुषकर्मगान् ॥
राजवृत्तमहं तस्माच्छ्रोतुमिच्छामि भावद।

यह राजा नाना प्रकारके मनुष्योंको दण्ड देता और

उन्हें डाँटता-फटकारता है। यह मृत्युके पश्चात् कैसे पुण्यात्माओंके लोक पाता है? मानद! अतः मैं राजाके आचार-व्यवहारका वर्णन सुनना चाहती हूँ॥

श्रीमहेश्वर उवाच

तदहं ते प्रवक्ष्यामि राजधर्मं शुभानने॥
राजायत्तं हि यत् सर्वं लोकवृत्तं शुभाशुभम्।
महतस्तपसो देवि फलं राज्यमिति स्मृतम्॥

श्रीमहेश्वरने कहा—शुभानने! अब मैं तुम्हें राजधर्मकी बात बताऊँगा; क्योंकि जगत्का सारा शुभाशुभ आचार-व्यवहार राजाके ही अधीन है। देवि! राज्यको बहुत बड़ी तपस्याका फल माना गया है॥

अराजके पुरा त्वासीत् प्रजानां संकुलं महत्।
तद् दृष्ट्वा संकुलं ब्रह्मा मनुं राज्ये न्यवेशयत्॥

प्राचीन कालकी बात है, सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। प्रजापर महान् संकट आ गया। प्रजाकी यह संकटापन्न अवस्था देख ब्रह्माजीने मनुको राजसिंहासनपर बिठाया॥

तदाप्रभृति संदृष्टं राज्ञां वृत्तं शुभाशुभम्।
तन्मे शृणु वरारोहे तस्य पथ्यं जगद्धितम्॥

तभीसे राजाओंका शुभाशुभ बर्ताव देखनेमें आया है। वरारोहे! राजाका जो आचरण जगत्के लिये हितकर और लाभदायक है, वह मुझसे सुनो॥

यथा प्रेत्य लभेत् स्वर्गं यथा वीर्यं यशस्तथा।
पित्र्यं वा भूतपूर्वं वा स्वयमुत्पाद्य वा पुनः॥
राज्यधर्ममनुष्ठाय विधिवद् भोक्तुमर्हति॥

जिस बर्तावके कारण वह मृत्युके पश्चात् स्वर्गका भागी हो सकता है, वही बता रहा हूँ। उसमें जैसा पराक्रम और जैसा यश होना चाहिये, वह भी सुनो। पिताकी ओरसे प्राप्त हुए अथवा और पहलेसे चले आते हुए अथवा स्वयं ही पराक्रमद्वारा प्राप्त करके वशमें किये हुए राज्यको राजा धर्मका आश्रय ले विधिपूर्वक उपभोगमें लाये॥

आत्मानमेव प्रथमं विनयैरुपपादयेत्।
अनुभृत्यान् प्रजाः पश्चादित्येष विनयक्रमः॥

पहले अपने आपको ही विनयसे सम्पन्न करे। तत्पश्चात् सेवकों और प्रजाओंको विनयकी शिक्षा दे। यही विनयका क्रम है॥

स्वामिनं चोपमां कृत्वा प्रजास्तद्वृत्तकाङ्क्षया।
स्वयं विनयसम्पन्ना भवन्तीह शुभेक्षणे॥

शुभेक्षणे! राजाको ही आदर्श मानकर उसके आचरण सीखनेकी इच्छासे प्रजावर्गके लोग स्वयं भी विनयसे सम्पन्न होते हैं॥

स्वस्मात् पूर्वतरं राजा विनयत्येव वै प्रजाः।
अपहास्यो भवेत्तादृक् स्वदोषस्यानवेक्षणात्॥

जो राजा स्वयं विनय सीखनेके पहले प्रजाको ही विनय सिखाता है, वह अपने दोषोंपर दृष्टि न डालनेके कारण उपहासका पात्र होता है॥

विद्याभ्यासैर्वृद्धयोगैरात्मानं विनयं नयेत्।
विद्या धर्मार्थफलिनी तद्विदो वृद्धसंज्ञिताः॥

विद्याके अभ्यास और वृद्ध पुरुषोंके संगसे अपने आपको विनयशील बनाये। विद्या धर्म और अर्थरूप फल देनेवाली है। जो उस विद्याके ज्ञाता हैं, उन्हींको वृद्ध कहते हैं॥

इन्द्रियाणां जयो देवि अत ऊर्ध्वमुदाहृतः।
अजये सुमहान् दोषो राजानं विनिपातयेत्॥

देवि! इसके बाद राजाको अपनी इन्द्रियोंपर विजय पाना चाहिये—यह बात बतायी गयी। इन्द्रियोंको काबूमें न रखनेसे जो महान् दोष प्राप्त होता है, वह राजाको नीचे गिरा देता है॥

पञ्चैव स्ववशे कृत्वा तदर्थान् पञ्च शोषयेत्।
षडुत्सृज्य यथायोगं ज्ञानेन विनयेन च॥
शास्त्रचक्षुर्नयपरो भूत्वा भृत्यान् समाहरेत्॥

पाँचों इन्द्रियोंको अपने अधीन करके उनके पाँचों विषयोंको सुखा डाले। ज्ञान और विनयके द्वारा आवश्यक प्रयत्न करके काम-क्रोध आदि छः दोषोंको त्याग दे तथा शास्त्रीय दृष्टिका सहारा लेकर न्यायपरायण हो सेवकोंका संग्रह करे॥

वृत्तश्रुतकुलोपेतानुपधाभिः परीक्षितान्।
अमात्यानुपधातीतान् सापसर्पान् जितेन्द्रियान्॥
योजयेत यथायोगं यथार्हं स्वेषु कर्मसु॥

जो सदाचार, शास्त्रज्ञान और उत्तम कुलसे सम्पन्न हों, जिनकी सचाई और ईमानदारीकी परीक्षा ले ली गयी हो, जो उस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हों, जिनके साथ बहुत-से जासूस हों और जो जितेन्द्रिय हों—ऐसे अमात्योंको यथायोग्य अपने कर्मोंमें उनकी योग्यताके अनुसार नियुक्त करे॥

अमात्या बुद्धिसम्पन्ना राष्ट्रं बहुजनप्रियम्।
दुराधर्षं पुरश्रेष्ठं कोशः कृच्छ्रसहः स्मृतः॥
अनुरक्तं बलं साम्नामद्वैधं मित्रमेव च।
एताः प्रकृतयः स्वेषु स्वामी विनयतत्त्ववित्॥

बुद्धिमान् मन्त्री, बहुजनप्रिय राष्ट्र, दुर्धर्ष श्रेष्ठ नगर या दुर्ग, कठिन अवसरोंपर काम देनेवाला कोष, सामनीतिके द्वारा राजामें अनुराग रखनेवाली सेना, दुविधेमें न पड़ा हुआ मित्र और विनयके तत्त्वको जाननेवाला राज्यका स्वामी—ये सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं॥

प्रजानां रक्षणार्थाय सर्वमेतद् विनिर्मितम्।
आभिः करणभूताभिः कुर्याल्लोकहितं नृपः॥

प्रजाकी रक्षाके लिये ही यह सारा प्रबन्ध किया गया है। रक्षाकी हेतुभूत जो ये प्रकृतियाँ है, इनके सहयोगसे राजा लोकहितका सम्पादन करे॥

आत्मरक्षा नरेन्द्रस्य प्रजारक्षार्थमिष्यते।
तस्मात् सततमात्मानं संरक्षेदप्रमादवान्॥

राजाको प्रजाकी रक्षाके लिये ही अपनी रक्षा अभीष्ट होती है, अतः वह सदा सावधान होकर आत्मरक्षा करे॥

भोजनाच्छादनस्नानाद् बहिर्निष्क्रमणादपि।
नित्यं स्त्रीगणसंयोगाद् रक्षेदात्मानमात्मवान्॥

मनको वशमें रखनेवाला राजा भोजन-आच्छादन-स्नान, बाहर निकलना तथा सदा स्त्रियोंके समुदायसे संयोग रखना—इन सबसे अपनी रक्षा करे॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च शस्त्रादपि विषादपि।
सततं पुत्रदारेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान्॥

वह मनको सदा अपने अधीन रखकर स्वजनोंसे, दूसरोंसे, शस्त्रसे, विषसे तथा स्त्री-पुत्रोंसे भी निरन्तर अपनी रक्षा करे॥

सर्वेभ्य एव स्थानेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान्।
प्रजानां रक्षणार्थाय प्रजाहितकरो भवेत्॥

आत्मवान् राजा प्रजाकी रक्षाके लिये सभी स्थानोंसे अपनी रक्षा करे और सदा प्रजाके हितमें संलग्न रहे॥

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्यं तु तत्सुखम्।
प्रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं तु प्रजाहितम्॥
प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते॥

प्रजाका कार्य ही राजाका कार्य है, प्रजाका सुख ही उसका सुख है, प्रजाका प्रिय ही उसका प्रिय है तथा प्रजाके हितमें ही उसका अपना हित होता है। प्रजाके हितके लिये ही उसका सर्वस्व है, अपने लिये कुछ भी नहीं है॥

प्रकृतीनां हि रक्षार्थं रागद्वेषौ व्युदस्य च।
उभयोः पक्षयोर्वादं श्रुत्वा चैव यथातथम्॥
तमर्थं विमृशेद् बुद्ध्या स्वयमातत्त्वदर्शनात्॥

प्रकृतियोंकी रक्षाके लिये राग-द्वेष छोड़कर किसी विवादके निर्णयके लिये पहले दोनों पक्षोंकी यथार्थ बातें सुन ले। फिर अपनी बुद्धिके द्वारा स्वयं उस मामलेपर तबतक विचार करे, जबतक कि उसे यथार्थताका सुस्पष्ट ज्ञान न हो जाय॥

तत्त्वविद्भिश्च बहुभिः सहासीनो नरोत्तमैः।
कर्तारमपराधं च देशकालौ नयानयौ॥
ज्ञात्वा सम्यग्यथाशास्त्रं ततो दण्डं नयेन्नृषु॥

तत्त्वको जाननेवाले अनेक श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ बैठकर परामर्श करनेके बाद अपराधी, अपराध, देश, काल, न्याय और अन्यायका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके फिर शास्त्रके अनुसार राजा अपराधी मनुष्योंको दण्ड दे॥

एवं कुर्वल्लभेद् धर्मं पक्षपातविवर्जनात्॥
प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामनुमानेन वा पुनः।
बोद्धव्यं सततं राज्ञा देशवृत्तं शुभाशुभम्॥

पक्षपात छोड़कर ऐसा करनेवाला राजा धर्मका भागी होता है। प्रत्यक्ष देखकर, माननीय पुरुषोंके उपदेश सुनकर अथवा युक्तियुक्त अनुमान करके राजाको सदा ही अपने देशके शुभाशुभ वृत्तान्तको जानना चाहिये॥

चारैः कर्मप्रवृत्त्या च तद् विज्ञाय विचारयेत्।
अशुभं निर्हरेत् सद्यो जोषयेच्छुभमात्मनः॥

गुप्तचरोंद्वारा और कार्यकी प्रवृत्तिसे देशके शुभाशुभ वृत्तान्तको जानकर उसपर विचार करे। तत्पश्चात् अशुभका तत्काल निवारण करे और अपने लिये शुभका सेवन करे॥

गर्ह्यान् विगर्हयेदेव पूज्यान् सम्पूजयेत् तथा।
दण्ड्यांश्च दण्डयेद् देवि नात्र कार्या विचारणा॥

देवि! राजा निन्दनीय मनुष्योंकी निन्दा ही करे, पूजनीय पुरुषोंका पूजन करे और दण्डनीय अपराधियोंको दण्ड दे। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये॥

पञ्चापेक्षं सदा मन्त्रं कुर्याद् बुद्धियुतैर्नरैः।
कुलवृत्तश्रुतोपेतैर्नित्यं मन्त्रपरो भवेत्॥

पाँच व्यक्तियोंकी अपेक्षा रखकर अर्थात् पाँच मन्त्रियोंके साथ बैठकर सदा ही राज-कार्यके विषयमें गुप्त मन्त्रणा करे। जो बुद्धिमान्, कुलीन, सदाचारी और शास्त्रज्ञानसम्पन्न हों, उन्हींके साथ राजाको सदा मन्त्रणा करनी चाहिये॥

कामकारेण वैमुख्यैर्नैव मन्त्रमना भवेत्।
राजा राष्ट्रहितापेक्षं सत्यधर्माणि कारयेत्॥

जो इच्छानुसार राज्यकार्यसे विमुख हो जाते हों, ऐसे लोगोंके साथ मन्त्रणा करनेका विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये। राजाको राष्ट्रके हितका ध्यान